A CRITICAL STUDY OF THE PHILOSOPHY OF SWAMI DAYANAND

Thesis submitted for the Degree of

Doctor of Philosophy in Philosophy

to the University of Allahabad

Under rhe Supervision of

Prof. R. S. Bhatnagar

M. A., D. Phil.,, D. Litt.

By

RANJANA SAXENA

Department of Philosophy

University of Allahabad

Allahabad

1997

TO THE SEEKERS OF TRUTH

पुरोवाक्

महर्षि दयानन्द सरस्वती-एक महान व्यक्तित्व, साधारण मानव किन्तु अन्तस् नितांत भिन्न। ऐसे व्यक्ति के जीवन के किसी साधारण पहलू की व्याख्या ही कठिन तथ्य है तो उनके जीवन में "दर्शन" जैसे दुरूह, दुर्बोध तत्त्व की थाह पाना, उसकी उपादेयता का मुल्यांकन करना निःसंदेह एक दुष्कर कार्य है।

अनादि काल से ही यह सम्पूर्ण विश्व मानव जीवन के लिए जिज्ञासा का विषय बना हुआ है। यह दृश्यमान जगत् क्या है? मैं क्या हूँ? इन्हीं रहस्यों की खोज के लिए अनेक ऋषियों, महर्षियों, दार्शनिकों, विद्वानों और मनीषियों ने अपना जीवन समर्पित कर दिया। सम्पूर्ण विश्व के अन्वेषकों के चिंतन का आधार ईश्वर तथा प्रकृति (जड़-तत्त्व) ही रहे हैं।

मेरी जिज्ञासु प्रवृति प्रारम्भ से ही इन रहस्यों के विषय में चिन्तनोन्मुख रही और इस विषय में स्वामी दयानन्द सरस्वती का दर्शन सर्वथा मौलिक, अद्वितीय एवं उपादेय प्रतीत हुआ है। महर्षि दयानन्द जन्मजात दार्शनिक थे, इस अर्थ में नहीं कि जीवन के आरंभिक काल में वे उदासीन और उद्विग्न रहते हों वरन् इस अर्थ में कि उनकी आत्मा आरम्भ से ही जीवन की विभिन्न जटिल समस्याओं का समाधान करने में तत्पर थी। उन्होंने अपना सम्पूर्ण जीवन, जीवन क्या है? मृत्यु पर कैसे विजय पाई जा सकती है। वास्तविक ईश्वर क्या है? उसका साक्षात्कार कैसे किया जा सकता है। इन्हीं समस्याओं के समाधान में अर्पित कर दिया।

वस्तुत: दयानन्द को समाज संशोधक, धर्माचार्य तथा राष्ट्र निर्माता

युग पुरुष के रूप में तो प्राय: स्मरण किया जाता है किन्तु उनके दार्शनिक विचारों का बहुत कम ऊहापोह हुआ है। उनका दर्शन जीवेश्वर के भेद तथा प्रकृति की अनादिता के सिद्धांत पर आधारित है। उनकी दार्शनिक विचारधारा वैदिक एवं औपनिषदिक दार्शनिक चिन्तन पर पूर्णतया आधारित है।

दयानन्द जी के जीवन की सार्थकता वैदिक धर्म को प्रतिष्ठित करने में थी। वे वेद को ज्ञान का पर्याय मानते थे। उन्होंने वेदों में निहित उच्चतर नैतिक, आध्यात्मिक मूल्यों, दार्शनिक तत्वों, समाजोपयोगी विधानों तथा विविध रहस्यों का दर्शन कर इस दिव्य ज्ञान से जनसाधारण को भी परिचित कराया। उनके दर्शन में निहित शाश्वत् तत्व का क्रमबद्ध तथा आलोचनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करना ही इस शोध-प्रबन्ध का उद्देश्य है।

सम्पूर्ण शोध-प्रबन्ध सात अध्यायों में विभक्त है। प्रथम अध्याय में ईश्वर के स्वरूप तथा ईश्वर से संबंधित वैदिक मान्यताओं को स्पष्ट किया गया है। द्वितीय तथा तृतीय अध्याय में क्रमश: जीव एवं प्रकृति का निरूपण किया गया है। चतुर्थ अध्याय दयानन्द की ज्ञान मीमांसा से संबंधित है। पंचम अध्याय दयानन्द की महत्वपूर्ण देन षड्दर्शन समन्वय से संबंधित है। जिसमें इनके द्वारा षड्दर्शनों में दिखने वाले विरोधों का परिहार किया गया है। षष्ठ अध्याय में दयानन्द के सामाजिक विधानों का विश्लेषण किया गया है और उनके राजनीतिक दर्शन पर भी प्रकाश डाला गया है जिसमें हमारे शासन के सूत्रधार कैसे हों, किन कारणों से प्रेरित होकर प्रजारंजन के कार्य में लगें आदि का उल्लेख है। सबसे अंतिम अध्याय में शोध प्रबंध का उपसंहार किया गया है।

इस शोध कार्य के पूरा होने में मुझ पर अहेतुकी कृपा रखने वाले विद्वानों

की शुभाशंसा ही प्रमुख कारण है। इस विषय पर शोध कार्य करने में मुझे प्रो० आर०एस० भटनागर, दर्शन विभाग इलाहाबाद विश्वविद्यालय का पूर्ण योगदान मिला तथा उन्हीं के सुयोग्य निर्देशन में यह शोध प्रबन्ध पूर्ण हो सका। मैं उनकी हार्दिक कृतज्ञ हूँ।

सुप्रसिद्ध वेद मर्मज्ञ और कर्मठ आर्यसमाजी सम्मान्य श्री मुलचंद अवस्थी जी (प्रबंधक आर्य कन्या डिग्री कालेज, इलाहाबाद) ने इस शोध प्रबन्ध का जिस सूक्ष्मता से निरीक्षण करके इसके गुण-दोषों से अवगत कराया, तदर्थ मै उनकी अत्यन्त आभारी हूँ।

सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा, नई दिल्ली, आगरा विश्वविद्यालय तथा डी०ए०वी० कालेज कानपुर के अधिकारियों एवं कर्मचारियों को धन्यवाद देती हूँ जिन्होंने शोध सामग्री संचयन हेतु मुझे अत्यन्त सहयोग और सहायता प्रदान की। इसके अतिरिक्त मुझे शोध सामग्री के संचयन में मथुरा के जन्मभूमि पुस्तकालय एवं इलाहाबाद के आर्य समाज चौक एवं आर्य समाज कटरा से भी पर्याप्त सहायता मिली।

मैं उन समस्त विद्वान लेखकों की भी आभारी और कृतज्ञ हूँ जिनके ग्रन्थों से इस शोध प्रबन्ध में सहायता प्राप्त हुई है।

इस कार्य को पूर्ण करते हुए मैं अपने पति श्री राजकुमार सक्सेना के प्रति आभारी हूँ, जिन्होंने मुझे शोध कार्य हेतु निरन्तर प्रेरित किया तथा अपने सक्रिय सहयोग से मेरी सामर्थ्य वृद्धि की। उनसे उऋण होने का तो कदापि कोई प्रश्न ही नहीं।

मेरे परमपूज्य देवतुल्य पिता स्वर्गीय रमेश चन्द्र सक्सेना ने तो मेरे

जीवन को ही दिशा दी थी और जो कुछ आज मै बन सकी हूँ उनके स्नेह, संरक्षण, त्याग और तप का ही परिणाम है। उनके चरणों में मैं श्रद्धा और भक्ति के साथ शतशः प्रणति निवेदित करती हूँ।

इस शोध प्रबन्ध में ईश्वर की अनुकम्पा सर्वोपरि सम्बल रही जिसके कारण ही यह शोध प्रबन्ध पूर्ण हो सका ।

मै उक्त मनीषियों, विद्वानों एवं आत्मीय जनों के प्रति हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करते हुए प्रसन्नता का अनुभव करती हूँ।

Ranjana Saxena
– रंजना सक्सेना

विषय-सूची

I ईश्वर 1

1· ईश्वर सृष्टिकर्ता 1
2· ईश्वर का स्वरूप 6
3· साकार और निराकार 12
4· एकेश्वरवाद और सर्वेश्वरवाद 14
5· अवतारवाद का खण्डन 18
6· ईश्वर के संबंध में वैदिक मान्यताएं 21
7· ईश्वर के संबंध में शंकर और रामानुज के मत 24
8· ईश्वर के संबंध में महर्षि दयानन्द की स्थापना 31

II जीव या आत्मा 33

1· आत्मा का स्वरूप 33
2· आत्मा और ईश्वर 37
3· जीवात्मपरिच्छिन्नवाद 40
4· आत्मा की अमरता और नित्यता 42
5· आत्मा का पुनर्जन्म 46
6· मुक्ति या मोक्ष 49
7· मुक्ति से पुनरावृत्ति 54
8· आत्मा पर शंकर के विचार 58

III प्रकृति 61

1· प्रकृति का स्वरूप 61
2· प्रकृति की नित्यता और अनित्यता 64
3· मूल प्रकृति तथा प्रकृति के अन्य रूप 67

4· प्रकृति के गुण धर्म 72

5· प्रकृति और ईश्वर 76

6· आस्तिक दर्शनों में प्रकृति 78

7· सृष्टि उत्पत्ति के विभिन्न सिद्धांत और महर्षि की मान्यताएं 83

8· प्रकृति के संबंध में विभिन्न आचार्यों के सिद्धान्त और दयानन्द 93

IV स्वामी दयानन्द की ज्ञान मीमांसा 96

1· ज्ञान का स्वरूप 96

2· ज्ञान की सीमा 98

3· प्रत्यक्ष प्रमाण 100

4· अनुमान 103

5· उपमान 104

6· शब्द 106

7· इन्द्रियों की विश्वसनीयता और अविद्या 108

8· ज्ञाता की सत्ता 110

9· ज्ञेय 112

10· ज्ञान का उद्देश्य 114

V दयानन्द और षड्दर्शन समन्वय 117

1· भारतीय षड्दर्शन 117

2· प्रमाण विषयक विप्रतिपत्तियां 121

3· परमाणुवाद और प्रकृतिवाद का समन्वय 124

4· सत्कार्यवाद और असत्कार्यवाद में भेदाभेद 127

5· द्वैत-अद्वैत सिद्धान्त में अविरोध 130

6· सांख्य और ईश्वरवाद 132

7· मीमांसा दर्शन में निरीश्वरवाद का विवेचन 140

8· स्वामी दयानन्द के अनुसार षड्दर्शन समन्वय 144

VI समाजशास्त्र और राजनीति 147

1· समाजशास्त्र की परिभाषा 147

2· समाज और व्यक्ति 148

3· वर्ण निर्धारण का आधार 151

4· वर्ण और आश्रम व्यवस्था 154

5· शिक्षा व्यवस्था 162

6· दयानन्द की राजनीति विषयक अवधारणाएं 165

7· स्वराज्य 168

8· प्रजातन्त्र पर दयानन्द के विचार 171

VII उपसंहार 174

ग्रन्थसूची 185

अध्याय- 1

ईश्वर

1. ईश्वर सृष्टिकर्ता

स्वामी दयानन्द का दर्शन ईश्वरवादी दर्शनों में से एक है। वह ईश्वर को मानते थे इसमें लेशमात्र भी संदेह नहीं किया जा सकता। उनकी ईश्वर की धारणा अन्य ईश्वरवादियों से विलक्षण रूप से भिन्न है। वे मूर्तिपूजा तथा अनेक देवी-देवताओं की उपासना को नहीं मानते थे इससे यह भ्रम पैदा हो गया है कि दयानन्द नास्तिक हैं। परन्तु ऐसा नहीं है। दयानन्द जी को ईश्वर के अस्तित्व पर कभी संदेह नहीं हुआ। उनके लिए ईश्वर परमसत्ता है।

ईश्वर जिसे हम सामान्य रूप से समझ सकते है, एक आत्मा है, एक महान आत्मा जिसका अस्तित्व सब समय है। इसका मतलब है कि अकेले ईश्वर ही अनन्त (नित्य) है और उसके सिवाय कोई दूसरी चीज अनन्त नहीं है। वह सबका सृष्टिकर्ता है। वह ऐसे आश्चर्यजनक विश्व की सृष्टि करने में समर्थ है। वह असंख्य गुणों से युक्त है जैसे अनन्त ज्ञान, अनन्त शक्ति और विश्व व्यापकता। इसके अतिरिक्त अन्य गुणों की बहुत बड़ी संख्या है जिससे उसके सर्वप्रमुख होने का अनुमान किया जा सकता है। ईश्वर के विषय में दयानन्द न्यायादि षड्शास्त्रों में ईश्वर विषयक प्राप्त विचारों का आदर करते हैं और विद्वानों की दृष्टि में पाये जाने वाले आपसी विरोधों को अपने दर्शन में सफलतापूर्वक समन्वय करने की चेष्टा करते हैं। उनका विचार है कि उपासना व योगाभ्यास से जीवात्मा ईश्वर की प्राप्ति कर सकता है।

अनीश्वरवादी ईश्वर में विश्वास का त्याग करते हैं। वे कहते हैं कि इस वर्तमान विश्व में ईश्वर के अस्तित्व को प्रमाणित करने के लिए कुछ नहीं है। स्वामी दयानन्द अनीश्वरवाद का समर्थन नहीं करते क्योंकि अनीश्वरवादी इस विश्व के अस्तित्व की अच्छी व्याख्या नहीं करते।

प्राचीन भारतीय अनीश्वरवादियों के सबसे ज्यादा आदर्श चार्वाक हैं जिनके विचारों को स्वामी दयानन्द के द्वारा संक्षेप में वर्णित किया गया है-

अग्निरुष्णो जलं शीतं शीतस्पर्शस्तथाऽनिल: ।
केनेदं चित्रितं तस्मात्स्वभावात् तद् व्यवस्थिति: ।।

अग्नि गर्म है, जल शीतल है, हवा भी उसी तरह छूने में शीतल है। किसने इसको बनाया ? इसलिए यह स्पष्ट है कि यह सब प्रकृति का कार्य है।

"चार्वाक, आभाणक, बौद्ध और जैन भी जगत की उत्पत्ति स्वभाव से मानते हैं। जो-जो स्वाभाविक गुण है उस उससे द्रव्य संयुक्त होकर सब पदार्थ बनते हैं। कोई जगत का सृष्टिकर्त्ता नहीं है।"[1]

सृष्टिकर्त्ता में विश्वास की आवश्यकता को हटाने के लिए कुछ विचारकों का मत है कि विश्व की सृष्टि कभी नहीं हुई थी। इस जगत का कर्त्ता न था, न है और न होगा किन्तु अनादि काल से यह जैसा का तैसा बना है। न कभी इसकी उत्पत्ति हुई, न कभी विनाश होगा।

स्वामी दयानन्द का कहना है कि बिना कर्त्ता के कोई भी क्रिया या

---

1. स्वामी दयानन्द, सत्यार्थ प्रकाश, 1981, द्वादशसमुल्लास पृष्ठ 277

क्रियाजन्य पदार्थ नहीं बन सकता जिन पृथ्वी आदि पदार्थों में संयोग विशेष से रचना दीखती है वे अनादि कभी नहीं हो सकते और जो संयोग से बनता है वह संयोग से पूर्व नहीं होता और वियोग के अंत में नहीं रहता। जो इसको न मानो तो कठिन से कठिन पाषाण हीरा और फौलाद आदि तोड़ टुकड़े कर या भस्म कर देखो कि इनमें परमाणु पृथक-पृथक मिले हैं या नहीं? जो मिले है तो वे समय पाकर अलग-अलग भी अवश्य होते हैं।

नास्तिक कहते है कि स्वभाव से जगत की उत्पत्ति होती है जैसे पानी, अन्न एकत्र हो सड़ने से कृमि उत्पन्न होते है और बीज पृथ्वी जल के मिलने से घास वृक्षादि और पाषाणादि उत्पन्न होते हैं। जैसे समुद्र वायु के योग से तरंग और तरंगों से समुद्रफेन; हल्दी, चूना और नीबू के रस मिलाने से रोरी बन जाती है वैसे सब जगत तत्वों के स्वभाव गुणों से उत्पन्न हुआ है। इसको बनाने वाला कोई भी नहीं।

स्वामी दयानन्द का उत्तर है कि यदि स्वभाव से जगत की उत्पत्ति हो तो विनाश कभी न हो और जो विनाश भी स्वभाव से मानो तो उत्पत्ति न होगी और जो दोनों स्वभाव युगपत्र द्रव्यों में माने तो उत्पत्ति और विनाश की व्यवस्था कभी न हो सकेगी और जो निमित के होने से उत्पत्ति और नाश मानेगें तो निमित उत्पत्ति से और विनाश होने वाले द्रव्यों से पृथक मानना पड़ेगा। जो स्वभाव ही से उत्पत्ति और विनाश होता तो एक समय ही में उत्पत्ति और विनाश का होना सम्भव नहीं। जो स्वभाव से उत्पन्न होता हो तो इस भुगोल के निकट में दूसरा भुगोल, चन्द्र, सूर्य आदि उत्पन्न क्यों नहीं होते?

जिस-जिस के योग से जो-जो उत्पन्न होता है वह ईश्वर के उत्पन्न किये हुये बीज, अन्न, जलादि के संयोग से घास , वृक्ष और कृमि आदि उत्पन्न होते है बिना उनके नहीं। जैसे हल्दी, चुना और नीबू का रस भिन्न स्थानों से आकर आप नहीं मिलते किसी के मिलाने से मिलते हैं। उसमें भी यथायोग्य मिलाने से रोरी बनती है। अधिक न्यून व अन्यथा करने से रोरी नहीं होती। वैसे ही प्रकृति परमाणुओं को ज्ञान और युक्ति से परमेश्वर के मिलाये बिना जड़ पदार्थ स्वयं कुछ भी कार्यसिद्धि के लिए विशेष पदार्थ नहीं बन सकते। इसलिए स्वभावादि से सृष्टि नहीं होती, परमेश्वर की रचना से होती है।

ऋषि दयानन्द लिखते है कि "बिना चेतन परमेश्वर द्वारा निर्माण किये जड़ पदार्थ स्वयं आपस में स्वभाव से नियम पूर्वक मिलकर उत्पन्न नहीं हो सकते। जो स्वभाव ही से होते हों तो द्वितीय सूर्य, चन्द्र, पृथ्वी और नक्षत्रादि लोक आप से आप क्यों नहीं बन जाते हैं?"[1] अतः सूर्य, चन्द्र, पृथ्वी आदि पदार्थों का बनाने वाला ईश्वर है।

जैन धर्म ईश्वर के खण्डन के विषय में निम्न तर्क करता है- सर्वज्ञो दृश्यते सावन्नेदानीमस्मदादिभिः। दृष्टो न चैकदेशोऽस्ति लिंग वा योऽनुमापयेत । सर्वदर्शनसंग्रह आर्हतदर्शन

अर्थात् चूंकि सर्वज्ञ नित्य परमेश्वर दिखाई नहीं पड़ता अतः वह है नही। जब वह प्रत्यक्ष नहीं तो अनुमान भी नहीं घट सकता।"

निसंदेह ईश्वर का भौतिक पदार्थों के समान इंद्रिय प्रत्यक्ष नहीं होता, इससे सभी विद्वान ईश्वर की सिद्धि में शब्द व अनुमान को ही प्रमाण मानते हैं

---

1. स्वामी दयानन्द, सत्यार्थ प्रकाश, 1981, द्वादशसमुल्लास, पृष्ठ 278

परन्तु दयानन्द ने ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिए प्रत्यक्ष को भी स्वीकार किया है। उनका विचार यह है कि प्रत्यक्ष में हमें गुणी का नहीं बल्कि गुणों का प्रत्यक्ष होता है जिसके आधार पर हम गुणी की विद्यमानता का अनुमान लगा लेते हैं। इसी प्रकार संसार की रचना, सृष्टि के सुनिश्चित नियम, सत्य, शुभ व अनन्त आदि विचारों से इनके आधाररूप परमात्मा को मानना ही पड़ता है क्यों कि ये गुण किसी अन्य पदार्थ में नहीं हो सकते हैं।

पर प्रश्न उठता है कि ईश्वर का सृष्टि रचना में क्या प्रयोजन है? स्वामी दयानन्द तो परमात्मा को आप्तकाम कहते हैं फिर भला उसका क्या प्रयोजन हो सकता है। सृष्टि का बनाना, रक्षण करना और समय पर पुन: निर्माणार्थ संहार करना उसका अपना स्वभाव है। स्वामी दयानन्द के मत से जीवात्माओं के उपकार व मोक्ष के लिए व उनको विविध कर्मों का फल देने के लिए परमात्मा सृष्टि का निर्माण करता है उसका इसमें न कोई प्रयोजन है और न इच्छा।

कुछ लोग कहते हैं कि कारण का कारण होना चाहिए अर्थात् ईश्वर का भी ईश्वर होना चाहिए, उनका उत्तर महर्षि अत्यन्त सरल दृष्टान्त द्वारा प्रकट करते हैं- "क्या आँख की आँख, दीपक का दीपक और सूर्य का सूर्य कभी हो सकता है?" सूर्य सब वस्तुओं को दिखाता है परन्तु सूर्य को देखने के लिये कभी किसी ने दूसरे सूर्य की आवश्यकता अनुभव नहीं की। इसी प्रकार ईश्वर सबका निमित कारण है इसके कारण को ढूंढना बुद्धिमता में सम्मिलित नहीं । कारण का कारण हो नहीं सकता इसलिए ईश्वर का भी ईश्वर पूछना भूल है।

यही नहीं कि उन्होंने ईश्वर से इन्कार करने वाले सब प्रकार के नास्तिकों के आक्षेपों का उत्तर दिया हो प्रत्युत वे पौराणिक आदि लोगों को भी जिन्होंने कि ईश्वर के मिथ्या गुण गढ़ लिये हैं वेदों के प्रमाण देते हुए उचित रूप से ईश्वर के सच्चे गुणों के अर्थ बतलाते हैं और सत्यार्थप्रकाश के सातवें समुल्लास में उन्होंने निराकार, सर्वशक्तिमान, न्यायकारी, दयालु, अजन्मा, अनादि, सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी की व्याख्या की है।

2· ईश्वर का स्वरूप

ईश्वर पारिभाषिक अर्थात् दार्शनिक दृष्टि से परिभाषा का शब्द है। उसकी परिभाषा और उसके नाम एवं गुण, कर्म और स्वभाव से उसका स्वरूप जाना जाता है। निम्न परिभाषा से उसका स्वरूप स्पष्ट हो जाता है-

(1) जो समस्त जड़-जगत का एक मात्र पालक, उत्पन्नकर्ता, निर्माणकर्ता है और समस्त भुवनों आदि को जानता है, जो समस्त सृष्टि में विद्यमान शाश्वत् नियमों का पालक अर्थात् "ऋतस्य गोपा" है वही सृष्टि का कर्त्ता ईश्वर है।

(2) जिससे जगत की उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय, ज्ञान का सर्वप्रथम प्रकाश सृष्टि रचना का समन्वय होता है वह ब्रह्म अर्थात् ईश्वर है।

(3) जो अविद्या, अस्मिता, राग-द्वेष, अभिनिवेश, क्लेशों, इनसे जनित पुण्यापुण्य फल दाता कर्मों और उनके फलों एवं इन सबकी वासनाओं से सर्वथा रहित है और जिसमें सर्वज्ञता की पराकाष्ठा है, जो काल बन्धन से रहित है, वह ईश्वर है।

(4) जो समस्त कार्य-कारणात्मक विश्व-पदार्थों, जीवों आदि पर अपना ईशन (शासन) रखता है जिस पर किसी अन्य की ईशना नहीं है, जो सदा ऐश्वर्य वाला है वह ईश्वर है।

(5) जीव के कर्मफल की व्यवस्था करने वाला गुण विशिष्ट जीवेतर आत्मा, जिसके बिना अन्य कोई जगत की रचना आदि व्यापार में समर्थ नहीं, ईश्वर है।

(6) जो समस्त सृष्टि पदार्थ एवं प्रजा में ओतप्रोत एवं विभु है और जो शाश्वती प्रजा जीव के लिए सृष्टि के पदार्थों को याथातथ्यत: एवं यथापूर्ण बनाता है, ईश्वर है।

ईश्वर के गुण, कर्म स्वभाव संक्षेप में निम्न प्रकार है-

" ईश्वर सच्चिदानन्दस्वरूप, निराकार, सर्वशक्तिमान, न्यायकारी, दयालु, अजन्मा, अनन्त, निर्विकार, अनादि, अनुपम, सर्वाधार, सर्वेश्वर, सर्वव्यापक, सर्वज्ञ, सर्वान्तर्यामिनी, अजर, अमर, नित्य, पवित्र और सृष्टिकर्ता एवं उपास्य है।" (आर्य समाज का दूसरा नियम)

स्वामी दयानन्द ईश्वर का जो स्वरूप मानते थे वो उनके द्वारा निर्मित आर्यसमाज के दूसरे नियम से स्पष्ट पता चल जाता है। उनके लिए ईश्वर सर्वोच्च सत्ता है इसी को वे ब्रह्म कहते हैं और वही परम पुरुष होने से परमात्मा है। ईश्वर के बिना सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय एवं कर्मफल व्यवस्था असम्भव है। यहां पर स्वामी दयानन्द की विचारधारा शंकराचार्य, रामानुज, वल्लभ एवं मध्व आदि पूर्ववर्ती दार्शनिकों से सर्वथा भिन्न है। यथार्थवाद में ईश्वर का क्या स्वरूप होना चाहिए इसका सही दिग्दर्शन हमें दयानन्द के दर्शन में ही

मिलता है। लेकिन इसका तात्पर्य यह नहीं है कि दयानन्द वेद व उपनिषदों की विचारधारा के विरुद्ध हैं। उनका तो स्पष्ट कथन है कि उपनिषदें यथार्थवादी हैं और उनमें वर्णित ईश्वर का स्वरूप यथार्थवादी, दृष्टिकोण पर आधारित है।

उपनिषद और दर्शनशास्त्र में पुरुष, ब्रह्म, आत्मा, ईश्वर, प्रणव, ओम, आदि से भी ईश्वर का बोध पाया जाता है। वेद में देवतावाचक पदों से भी ईश्वर का बोध होता है। वेद में ओ5म् कहा गया है। उपनिषद् कहते हैं कि "सारे वेद जिसे गाते हैं, सारे ऋषि जिसका व्याख्यान करते हैं जिसकी प्राप्ति की इच्छा से मुमुक्षु ब्रह्मचर्य व्रत धारण करते हैं, वह ओ5म् है।"[1] "ओ5म् यह ओंकार शब्द परमात्मा का सर्वोत्तम नाम है क्योंकि इसमें जो अ, उ और म् तीन अक्षर मिलकर एक ओ5म् समुदाय हुआ है। इस एक नाम से परमेश्वर के बहुत नाम आते हैं। जैसे- अकार से विराट्, अग्नि और विश्वादि । उकार से हिरण्यगर्भ वायु और तैजसादि। मकार से ईश्वर, आदित्य और प्राज्ञादि नामों का वाचक और ग्राहक है।"[2]

योगदर्शन में परमेश्वर का यह लक्षण किया है- "क्लेशकर्मविपाकाशयैर-परामृष्ट: पुरुषविशेष ईश्वर: ।।"(यो0 1/24)

---

1. सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति तपांसि सर्वाणि च यद्वदन्ति ।
   यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत् ।। क0उ0 1-2-
2. सत्यार्थ प्रकाश, प्रथम समुल्लास, पृष्ठ।

अर्थात जो अविद्यादि पांच क्लेश और अच्छे बुरे कर्मों की जो-जो वासना, इन सब से जो सदा अलग-अलग और बन्धरहित है, उसी पूर्ण पुरुष को ईश्वर कहते हैं। जिससे अधिक वा तुल्य दूसरा पदार्थ कोई नहीं तथा जो सदा आनन्द ज्ञानस्वरूप, सर्वशक्तिमान है उसी को ईश्वर कहते हैं। क्योंकि " तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम्" (यो० 1/25) जिसमें नित्य सर्वज्ञ ज्ञान है वही ईश्वर है। जिसके ज्ञानादि गुण अनन्त हैं जो ज्ञानादि गुणों की पराकाष्ठा है। परमात्मा के अनन्त गुण होने से उसके नाम भी अनन्त हैं। यहाँ पर स्वामी दयानन्द वेद की उसी केन्द्रीय विचारधारा का प्रतिपादन करते हैं जिसमें परमात्मा को ही सर्वदेव सम्पन्न कहा गया है।

महर्षि सत्यार्थप्रकाश के प्रथम समुल्लास में शास्त्रोक्त प्रमाणों से बतलाते है कि "सर्ववेद, शास्त्र, ब्रह्मचर्य आदि महासाधनों का उद्देश्य इसी ईश्वर की प्राप्ति कराना है।"

ईश्वर सर्वशक्तिमान है। वह कभी अपने स्वभाव के विरुद्ध नहीं करता। इसका उदाहरण हमारी समस्त सृष्टि है। सृष्टि की रचना, पालन और प्रलय आदि तथा जीवों के कर्मों के फल की व्यवस्था करने के अपने कार्य तो ईश्वर बिना किसी की सहायता के स्वयं करता है अत: वह सर्वशक्तिमान है। प्राय: दार्शनिक कहते हैं कि ईश्वर इसलिए सर्वशक्तिमान है कि वह उल्टा सीधा, असंभव और अनर्गल एवं नियमविरुद्ध आदि सभी कुछ कर सकता है। सर्वशक्तिमानता का यह अर्थ लेने वालों से स्वामी दयानन्द का प्रश्न है कि क्या वह दूसरा ईश्वर बना सकता है? और स्वयं मृत्यु को प्राप्त हो सकता है? कभी नहीं। ईश्वर अपने स्वभाव से अद्वैत है। जो वस्तु जैसी स्वभाव और नियम से है उसको वैसा

रखना और करना ईश्वर की सर्वशक्तिमता की सार्थकता है। सर्वशक्तिमान की सर्वशक्ति की परिधि में अपने समान दूसरा ईश्वर बनाना नहीं आता है अत: वह ऐसा न करने में ही सर्वशक्तिमान है। परमात्मा के बाहर कुछ नहीं है अत: किसी को भी बाहर न करने में ही उसकी सर्वशक्तिमता है। संसार में कोई भी शक्ति उसके बाहर किसी को नहीं कर सकती है और न स्वयं कोई उससे बाहर जा सकता है अत: उसकी सर्वशक्तिमता स्वीकार्य है। दयानन्द के अनुसार परमेश्वर की शक्ति की भी कुछ न कुछ सीमा है जैसे ईश्वर अज्ञानी नहीं हो सकता, बुरा काम नहीं कर सकता क्योंकि वह न्यायकारी और अविनाशी है।

परमात्मा अनादि है। परमात्मा को अनादि न मानने पर उसे सर्वशक्तिमान नहीं माना जा सकता। क्योंकि जो उत्पत्ति और विनाश वाला है उसे अपने अस्तित्व के लिये किसी अन्य सत्ता पर आश्रित होना पड़ेगा। अत: वह सर्वशक्तिमान नहीं हो सकता। महर्षि दयानन्द के अनुसार जिसका कोई आदि कारण वा समय न हो वह अनादि है। परमात्मा दिक् काल से परे अनादि है। वह सर्वज्ञ है। उसका ज्ञान अखण्ड-एकरस और यथार्थ है। वह जीवों के किये कर्मों का फलदाता है। परमात्मा जीव के स्वतंत्रतापूर्वक किये गये कर्मों को सर्वज्ञता से जानता है। वह जीव के कर्म करने की स्वतंत्रता में किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं करता। जीव जैसा स्वतंत्रता से करता है, ईश्वर उसी प्रकार उसका फल देता है।

ईश्वर की सर्वज्ञता के विषय में एक प्रश्न उठता है कि यदि परमात्मा सर्वज्ञ है तो अपना अन्त भी जानता होगा। और यदि जानता है तो इसका अर्थ है कि परमात्मा सान्त है, अनन्त नहीं। यदि यह कहें कि परमात्मा

अनन्त होने से अपना अन्त नहीं जानता तब इससे उसकी सर्वज्ञता का बाध होता है। स्वामी दयानन्द का कहना है कि अनन्त परमात्मा अपने को अनन्त ही जानता है। "जब परमेश्वर अनन्त है तो उसको अनन्त ही जानना ज्ञान, उसके विरुद्ध अज्ञान अर्थात् अनन्त को सान्त और सान्त को अनन्त जानना भ्रम कहलाता है।"[1]

ईश्वर सत्य है, सदैव रहने वाला है, चेतन है और आनन्द रूप है, आनन्द का भण्डार है। सब प्रकार के दुखादि क्लेशों से दूर है तथा जिसमें सब जीव मुक्ति में आनन्द को प्राप्त होते हैं इससे ब्रह्म आनन्द है। जीवात्मा "सत्य" और "चित" है अर्थात् आनन्द रहित है। स्थायी आनन्द, आनन्द के भण्डारी प्रभु के सान्निध्य से मिल सकता है।

दयानन्द के अनुसार परमात्मा अद्वितीय है। न कोई उससे बड़ा है और न कोई बराबर। दयानन्द त्रैतवादी है, उनके अनुसार परमात्मा से न्यून जीव व प्रकृति की सत्ता ईश्वर के साथ साथ अनादि है। लेकिन इससे ईश्वर की सर्वव्यापकता का बाध नहीं होता, क्योंकि ईश्वर अति सूक्ष्म होने से जीव व प्रकृति दोनों में व्याप्त है। सर्वव्यापक होने से ही वह सर्वान्तर्यामी, सर्वज्ञ सर्वनियन्ता, सबका सृष्टा है। दयानन्द कहते हैं कि अति सूक्ष्म होने से ईश्वर हर पदार्थ में उसी प्रकार ओत-प्रोत है जिस प्रकार गर्म लोहे में अग्नि विद्यमान रहती है। इससे परमात्मा सीमित नहीं होता।

---

1. सत्यार्थ प्रकाश, सप्तमसमुल्लास, पृ०ठ 125

3. साकार और निराकार

ईश्वर निराकार है। निराकार का अर्थ है जो सर्वत्र व्यापक है तथा जिसका कोई आकार नहीं है। "जो साकार होता तो उसके नाक, कान, आँख आदि अवयवों का बनाने हारा दूसरा होना चाहिए। क्योंकि जो संयोग से उत्पन्न होता है उसको संयुक्त करने वाला निराकार चेतन अवश्य होना चाहिए। यदि कोई ऐसा कहे कि ईश्वर ने स्वेच्छा से आप ही आप अपना शरीर बना लिया तो भी वही सिद्ध हुआ कि शरीर बनने के पूर्व निराकार था। इसलिए परमात्मा कभी शरीर धारण नहीं करता।"[1] जो साकार अर्थात शरीर युक्त है वह ईश्वर नहीं है। इससे यही निश्चित है कि ईश्वर निराकार है।

स्वामी शंकराचार्य ने भी ईश्वर को निराकार मानते हुए स्पष्ट लिखा है कि- "अकायम् अशरीरं लिंगशरीरवर्जितः, अव्रणमस्नाविरमित्येताभ्यां स्थूलशरीरप्रतिषेधः, शुद्धं निर्मलमविद्यामलरहितमिति कारणशरीरप्रतिषेधः ।"[2] शंकराचार्य जीव-प्रतिबिम्बवाद का भी पोषण करते हैं कि जीव अन्तःकरण में ब्रह्म का प्रतिबिम्ब है। स्वामी दयानन्द का इस पर कहना है कि प्रतिबिम्ब साकार पदार्थों का होता है, जैसे मुख आकार वाला होने से दर्पण में दिखाई देता है। ब्रह्म निराकार है, इससे उसका कोई प्रतिबिम्ब सम्भव नहीं है। और यदि यह कहा जाए कि स्वच्छ जल में निराकार आकाश का प्रतिबिम्ब तो दिखाई पड़ता है, तब स्वामी दयानन्द का उत्तर है कि जल में दिखाई पड़ने

---

1. स्वामी दयानन्द, सत्यार्थ प्रकाश, 1981, सप्तमसमुल्लास पृष्ठ 119
2. शंकराचार्य, ईशावास्यो० शांकरभाष्यम्

वाला आकाश नहीं वरन् पृथिवी, जल व अग्नि के त्रसरेणु है जो व्योम में एकत्रित हो गये हैं। आकाश सर्वव्यापक है इसका प्रतिबिम्ब नहीं हो सकता। परमात्मा भी निराकार होने से सर्वव्यापक है और यदि व्यापक न होता तो सर्वज्ञादि गुण भी ईश्वर में नहीं घट सकते क्योंकि परिमित वस्तु के गुण, कर्म, स्वभाव भी परिमित होते हैं। इससे परमात्मा को साकार, एकदेशीय नहीं माना जा सकता। उसकी अनन्त शक्ति बल और पराक्रम है उनसे सब काम करता है जो जीव और प्रकृति से कभी नहीं हो सकते। निराकार तथा सर्वव्यापक परमात्मा अति सूक्ष्म कारण प्रकृति से स्थूल जगत का निर्माण कर देता है और सर्वगत होने से सबका धारण और प्रलय भी कर सकता है।

प्राय: विद्वान निराकार का अर्थ निर्गुण करते हैं। उनकी यह मान्यता भ्रान्त है। निराकार तत्व सगुण हो सकता है जैसे आकाश जिसका गुण शब्द है। इसके अतिरिक्त निराकारत्व स्वयं एक गुण है फिर उसे निर्गुण क्यों कहा जाये। स्वामी दयानन्द ब्रह्म को सगुण व निर्गुण दोनों बताते हैं। परमेश्वर अपने अनन्त ज्ञान, बल आदि गुणों से सहित होने से सगुण और रूपादि जड़ के तथा द्वेषादि जीव के गुणों से पृथक होने से निर्गुण है। अत: निराकार परमात्मा सगुण और निर्गुण दोनों है। दयानन्द इसी एक निराकार परमात्मा की उपासना का विधान करते हैं। जिसका न तो शंकराचार्य के सगुण ब्रह्म की तरह निम्न रूप है और जो न रामानुज की तरह साकार रूप वाला है। निराकार ब्रह्म की कोई मूर्ति भी नहीं हो सकती है। वेद स्पष्ट शब्दों में परमात्मा की मूर्ति होने का खण्डन करता है कि उस परमात्मा की कोई प्रतिमा नहीं है" न तस्य प्रतिमाऽस्ति। इसी आधार पर दयानन्द कहते हैं कि जब परमात्मा निराकार है तब उसकी मूर्ति ही नहीं बन सकती।

यह भी कहना ठीक नहीं कि निराकार का ध्यान नहीं हो सकता। जैनी लोग कहते हैं कि "निराकार ईश्वर का ध्यान तभी हो सकता है जबकि कम से कम हृदय पर कुछ न कुछ उसका आकार खिंच जाए।" यह उक्ति ठीक नहीं जब ईश्वर निराकार है तो फिर उसका कुछ न कुछ आकार किस प्रकार खिंच सकता है। यदि आकार खिंचे तो फिर वह निराकार क्योंकर हो सकता है। अत: यह एक प्रकार का वदतोव्याघात है।

परमात्मा निराकार है। अत: उसे निराकार ही समझकर ध्यान किया जाता है। साकार पाषाण आदि मूर्ति उसके ध्यान का साधन नहीं है। अत: यह सर्वथा ही सत्य है कि निराकार एवं सर्वव्यापक ईश्वर की मूर्ति नहीं बनाई जा सकती है। इसीलिए स्वामी दयानन्द ईश्वर की उपासना में मूर्तिपूजा का निषेध करते हैं।

4. एकेश्वरवाद और सर्वेश्वरवाद

ईश्वर एक है या अनेक? यह प्रश्न बहुत ही विवादास्पद है। बहुईश्वरवाद के अनुसार ईश्वर, जो कि सृष्टि का निर्माता व नियामक है के अतिरिक्त अन्य अनेक देवी देवता भी हैं जो कि उपास्य हैं। दूसरी तरफ एकेश्वरवाद में ईश्वर ही एक शक्ति है जो संसार का निर्माता है तथा हमारी उपासना का विषय है। इसके अतिरिक्त सृष्टि के भिन्न-भिन्न पदार्थ जैसे वायु, अग्नि, मेघ, वृक्षादि कोई भी देवता उपासनीय नहीं है। ये व्यवहार के देव हैं। व्यवहारिक देव से दयानन्द का तात्पर्य है कि ये प्रकृति की शक्तियां है, जो हमारे जीवन पर प्रभाव डालती है। लेकिन किसी भी स्थिति में यह शक्तियां उपासना का विषय नहीं हैं। उपासना का विषय केवल एक ब्रह्म है।

इसमें निरूक्त का भी प्रमाण है कि व्यवहार के देवताओं की उपासना कभी नहीं करनी चाहिए किन्तु एक परमेश्वर की ही करनी उचित है। इसका निश्चय वेदों में अनेक प्रकार से किया है कि एक अद्वितीय परमेश्वर के ही प्रकाश, धारण, उत्पादन करने से सब व्यवहार के देव प्रकाशित हो रहे हैं। केवल परमेश्वर ही कर्म उपासना और ज्ञानकाण्ड में सबका इष्टदेव स्तुति, प्रार्थना, पूजा और उपासना करने के योग्य है।

स्वामी दयानन्द ने अपना यह स्पष्ट मत स्थापित किया था कि परमात्मा एक है चाहे उसे ब्रह्म कहें या ईश्वर, इसके अतिरिक्त किसी अन्य की उपासना सर्वथा अनुचित है। वे एकेश्वरवादी थे। उनका कथन है कि "जो सब जगत का कर्त्ता सर्वशक्तिमान सबका इष्ट सबकी उपासना के योग्य सबका धारण करने वाला सबमें व्यापक और सबका कारण है जिसका आदि अन्त नहीं और जो सच्चिदानन्द स्वरूप है जिसका जन्म कभी नहीं होता और जो कभी अन्याय नहीं करता इत्यादि विशेषणों से वेदादि शास्त्रों में जिसका प्रतिपादन किया है उसी को इष्ट देव मानना चाहिए उसी की उपासना करनी उचित है।"[1]

स्वामी दयानन्द वेद में एकेश्वरवाद को मानते हैं। वेद में ब्रह्म के अतिरिक्त किसी अन्य देवता की उपासना का विधान कहीं भी नहीं है। वेदों में सर्वत्र ही एक परमात्मा को देवानाम देव, परमेव्योमन् तथा सृष्टि का अध्यक्ष आदि विशेषणों से पुकारा गया है। दयानन्द वेदों में दो प्रकार के देव

---

1. स्वामी दयानन्द, ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका, पृष्ठ 68

व्यवहारिक एवं उपासनीय मानते हैं। उनके मत में सूर्य, चन्द्र, रूद्र आदि व्यवहार के देव हैं तथा किसी भी रूप में उपासना का विषय नहीं है। वेदों में उपासना का विषय केवल एक परमात्मा है जिसको ऋषिगण अनेक नामों से पुकारते हैं। स्वामी दयानन्द इसी एक परमात्मा की उपासना का विधान कहते हैं।

स्वामी दयानन्द का विचार है कि देवता शब्द से ईश्वर का अर्थ लेना ठीक नहीं है। उनके अनुसार देव शब्द का अर्थ निरूक्त के अनुसार करना चाहिए। नैरूक्तिक प्रणाली से अर्थ करने से हर कल्याणकारी वस्तु चाहे वह पार्थिव हो या चेतन, देव कही जा सकती है लेकिन इनकी उपासना का विधान कहीं भी नहीं है। वे अन्य देवी-देवताओं की उपासना का श्रुतियों इत्यादि में भी स्पष्ट निषेध करते हैं कि "देवता दिव्य गुणों से युक्त होने के कारण कहाते हैं जैसी कि पृथ्वी, परन्तु इसको कहीं ईश्वर या उपासनीय नहीं माना है।"[1]

दयानन्द कहते हैं कि जहां कहीं भी इन्द्र या किसी अन्य देवता को परमात्मा के लिए प्रयुक्त होने वाले सर्वशक्तिमान आदि विशेषणों से सम्बोधित किया गया है वहाँ उससे परमात्मा का ही बोध करना चाहिए क्यों कि केवल ईश्वर ही सर्वशक्तिमान है तथा वही उपासना का विषय है। अत: जहाँ जहाँ स्तुति, प्रार्थना, उपासना, सर्वज्ञ, व्यापक, शुद्ध, सनातन और सृष्टिकर्ता आदि विशेषण लिखे हैं वहीं-वहीं इन नामों से परमेश्वर का ग्रहण होता है।

वेद स्वामी दयानन्द के विचार का समर्थन करते हैं। वेद में एक ईश्वर का उल्लेख है। ऋग्वेद कहता है- "वह एक है, लेकिन बुद्धि उसको अनेक नामों से पुकारती है जैसे इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि, दिव्य, सुपर्णा, मातरिश्वा, यम

---

1. स्वामी दयानन्द, सत्यार्थ प्रकाश, 1981, सप्तमसमुल्लास, पृष्ठ 116

और गरुत्मान।"[1] अथर्ववेद कहता है- "वह परमात्मा सब संसार को विविध प्रकार से देखता है जो श्वास लेता है और जो नहीं भी लेता। वह आप ही अकेला अपने आप में एक है। सारे देव इसी में एक रूप में स्थित हैं।"[2]

अत: कहा जा सकता है कि वेद एकेश्वरवादी है तथा इनमें प्राप्त एकेश्वरवाद उपनिषदों के ब्रह्मवाद के समान है। उपनिषदें केवल ब्रह्म को ही सृष्टि का अध्यक्ष मानती है और साथ ही घोषणा भी करती है कि- जिसे मन नहीं देख सकता परन्तु जिसकी शक्ति से मन देखता है वही वह है, उसी को ब्रह्म जानना चाहिए न कि वह जो यह कहकर पूजा जाता है। इस प्रकार स्वामी दयानन्द की एकेश्वरवादी विचारधारा को उपनिषदों से भी पर्याप्त बल मिलता है।

कुछ विद्वान एकेश्वरवाद व सर्वेश्वरवाद को एक मानते हैं परन्तु एकेश्वरवाद व सर्वेश्वरवाद को एक मानना कभी भी युक्तिसंगत नहीं हो सकता। कोई मत एकेश्वरवादी हो सकता है लेकिन सर्वेश्वरवादी नहीं। जैसे न्याय-वैशेषिक एवं योग ये तीनों ही दर्शन एकेश्वरवादी हैं लेकिन ईश्वर के अतिरिक्त पुरुष व प्रकृति को भी नित्य मानते हैं इसलिए ये सर्वेश्वरवादी नहीं हैं। सर्वेश्वरवाद के अनुसार तो ईश्वर ही सब कुछ है और सब कुछ ईश्वर है अर्थात् ईश्वर ही सृष्टि है और ईश्वर ही निर्माता है। महर्षि दयानन्द का आक्षेप है कि जब

---

1. इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्य: स सुपर्णो गरुत्मान्।
एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहु:।। (ऋ0 1,164,46)

2. स सर्वस्मै वि पश्यति यच्च प्राणति यच्च न। तमिदं नि गतं सह: स एष एक एकवृदेक एव। सर्वे अस्मिन् देवा एकवृतो भवन्ति। अथर्व0 13,4,19,20,21

परमात्मा शुद्ध, द्रष्टा एवं अपरिणामी है फिर वह कैसे अपने को सृष्टि के रूप में परिवर्तित करेगा। उनके अनुसार सृष्टि का उपादान ईश्वर नहीं हो सकता। स्वामी दयानन्द ईश्वर के अतिरिक्त जीव व प्रकृति को भी नित्य पदार्थ मानते हैं परन्तु एक ईश्वर के अतिरिक्त किसी दूसरे ईश्वर या अन्य देवताओं को नहीं मानते। उनके अनुसार सर्वव्यापक एवं सर्वशक्तिमान ईश्वर सृष्टि का संचालन करने में स्वयं समर्थ है उसे किसी अन्य की सहायता की कोई आवश्यकता नहीं है। इस संबंध में दयानन्द की विचारधारा एकदम दार्शनिक है, शंकराचार्य के निर्गुण ब्रह्म के समान शुष्क नहीं। इसमें एक तरफ जहाँ दर्शन की गहराई है वहीं दूसरी तरफ यथार्थवादिता है। इस प्रकार स्वामी दयानन्द एकेश्वरवाद में विश्वास करते हैं। उनके अनुसार केवल ईश्वर ही उपास्य है सब दिव्य गुणों से सम्पन्न है।

5· अवतारवाद का खण्डन

वेद में ईश्वर को निराकार माना गया है। उसका किसी भी रूप में शरीरादि धारण करना असम्भव है। हिन्दू धर्म में प्रचलित विश्वास है कि जब संसार में पाप व कष्ट अधिक मात्रा में हो जाते हैं तब उनके निवारण के लिए परमात्मा स्वयं अवतार धारण कर पृथ्वी पर अवतरित होते हैं।

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।

अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ।। भ0गी0।।

श्रीकृष्ण जी कहते हैं कि जब-जब धर्म का लोप होता है तब-तब मैं शरीर धारण करता हूँ।

स्वामी दयानन्द का कहना है कि यह बात वेदविरुद्ध होने से प्रमाण

नहीं है। ऐसा हो सकता है कि श्रीकृष्ण धर्मात्मा और धर्म की रक्षा करना चाहते थे कि मै युग-युग में जन्म लेकर श्रेष्ठों की रक्षा और दुष्टों का नाश करूँ तो कुछ दोष नहीं। क्योंकि "परोपकाराय सतां विभूतय: " परोपकार के लिए सत्पुरुषों का तन, मन, धन होता है तथापि इससे श्रीकृष्ण ईश्वर नहीं हो सकते।

स्वामी दयानन्द का दर्शन बौद्धिक है अत: उसमें किसी असंगत कल्पना को स्थान नहीं है। अवतारवाद के विरुद्ध उनका प्रश्न है कि परमात्मा को अवतार धारण करने की क्या आवश्यकता है? क्या सर्वशक्तिमान परमात्मा अपनी इच्छा मात्र से दुष्टों का नाश नहीं कर सकता? दयानन्द कहते हैं कि प्रथम तो जो जन्मा है वह अवश्य मृत्यु को प्राप्त होता है और फिर उस परमात्मा को अवतार धारण करने की क्या आवश्यकता है क्योंकि जो परमात्मा बिना शरीर धारण किये इस विशाल सृष्टि का निर्माण करता है वह अपनी किंचितमात्र शक्ति से दुष्टों का नाश कर सकता है। और यदि कोई कहे कि भक्त जनों के उद्दार के लिए जन्म लेता है तो भी सत्य नहीं क्योंकि जो भक्तजन ईश्वर की आज्ञानुकूल चलते हैं उनके उद्दार करने का पूरा सामर्थ्य ईश्वर में है।

दूसरे अनन्त, निराकार, सर्वव्यापक व सर्वज्ञ परमात्मा एक स्त्री के गर्भ में कैसे आ सकता है? जैसे कोई अनन्त आकाश को कहे कि गर्भ में आया व मुट्ठी में धर लिया, ऐसा कहना कभी सत्य नहीं हो सकता। क्योंकि आकाश अनन्त और सब में व्यापक है। इससे न आकाश बाहर आता और न भीतर जाता है वैसे ही अनन्त सर्वव्यापक परमात्मा के होने से उसका आना जाना भी सिद्ध नहीं हो सकता। जाना व आना वहाँ हो सकता है जहाँ वह न हो।

क्या परमेश्वर गर्भ में व्यापक नहीं था जो कहीं से आया? और बाहर नहीं था जो भीतर से निकला? इसलिये परमेश्वर का जाना आना जन्म मरण कभी सिद्ध नहीं हो सकता। परमात्मा सब प्रकार नस, नाड़ियों (शरीर) के बंधन से दूर है फिर वह अवतार कैसे धारण कर सकता है। अतः दयानन्द के अनुसार ईश्वर अवतार धारण नहीं करता। इसलिए ईसा आदि भी ईश्वर के अवतार नहीं है। क्योंकि राग द्वेष, क्षुधा, तृषा, भय, शोक, दुख सुख, जन्म मरण आदि गुणों से युक्त होने से वे मनुष्य ही थे।

अन्ततोगत्वा यह परिणाम सहज में निकल आता है कि परमात्मा कभी भी अवतार लेकर शरीर धारी नहीं हो सकता है। शरीर की उत्पत्ति के लिये जो बातें चाहिए वह परमात्मा में नहीं घटती। देह, इन्द्रिय और मन इन के सम्बन्ध का नाम जन्म है। जन्म से सुख दुख हुआ करता है। जन्म के होने के लिए धर्माधर्मरूप कारण का होना आवश्यक है। धर्माधर्म के लिए प्रवृत्ति होनी आवश्यक है। प्रवृत्ति के लिये राग द्वेष होना अनिवार्य है और उसके लिये मिथ्या ज्ञान का होना। परन्तु परमात्मा में मिथ्या ज्ञान का होना असंभव है अतः उसका जन्म नहीं हो सकता अर्थात् मिथ्या ज्ञान के न होने से राग द्वेष आदि का अभाव, राग द्वेषादि के अभाव से प्रवृति का अभाव, प्रवृति के अभाव से धर्माधर्म का अभाव और धर्माधर्म के अभाव से परमात्मा के जन्म का भी अभाव है। इसी बात का स्पष्टीकरण पतंजलि के इस सूत्र से भी होता है-

क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः ।।यो0।/24

अर्थात अविद्या, अस्मिता, रागद्वेष और अभिनिवेश इन पांच क्लेशों से इष्ट व अनिष्ट कर्म उन कर्मों का फल तथा फलानुसार वासना से जो रहित है। वह ईश्वर है।

6. ईश्वर के संबंध में वैदिक मान्यतायें

वेद किसी ऐसे ईश्वर से संतुष्ट नहीं हो सकते जिससे अधिक शक्तिशाली कोई और देव हो अथवा उसके बराबर की कोई अन्य शक्ति हो। इसमें ब्रह्म को सर्वशक्तिमान, सर्वव्यापक, व सर्वज्ञादि विशेषणायुक्त कहा गया है। यही सृष्टि का अध्यक्ष है जो कल्प के आदि में सृष्टि का निर्माण करता है। सृष्टिकाल में पालन करता है तथा प्रलयकाल में संहार कर अपने में लीन कर लेता है। इसी परमसत्ता का वर्णन "परम पुरुष" "सृष्टि का अध्यक्ष" देवों का देव" आदि नामों से वैदिक मंत्रों में पाया जाता है। इस परमदेव परमात्मा की ही शक्ति से सूर्यादि पदार्थ अपने-अपने कार्यों में लगे रहते हैं। दयानन्द के अनुसार "वेदों का मुख्य तात्पर्य परमेश्वर के ही प्राप्त कराने और प्रतिपादन करने में है।"[1]

वेद अलंकारिक भाषा में परमात्मा की व्यापकता व निराकारत्व का वर्णन करता है कि "निश्चय ही आप सर्वत्र मुख वाले हैं सब ओर से सबको देख रहे हैं, आप सर्वत्र व्यापक है।"[2] इसकी महिमा इतनी महान है कि यह समस्त ब्रह्माण्ड इस परमपुरुष की महिमा के सम्मुख कुछ भी नहीं है बल्कि ऐसा प्रतीत होता है कि मानो सारी सृष्टि उसके एक भाग में स्थित है तथा तीन भाग अमृतमय है। वह सर्वव्यापक है। सारे संसार का अनुपम पति और सब भुवनों का एक ही स्वामी है।

---

1. दयानन्द ग्रंथमाला, भाग-2, पृष्ठ 314

2. त्वं हि विश्वतो मुख विश्वतः परिभूरसि। ऋ0 1-97-6

वेद इसी एक अद्वितीय परमात्मा की उपासना का आदेश करते हैं। वेदों में एक ब्रह्म की उपासना शुरू से लेकर अंत तक है। वेद एकेश्वरवादी हैं। अथर्ववेद कहता है "जो प्रकाशस्वरूप सूर्य जिसकी त्वचा है जो देवताओं के कारण होने वाले दुखों को दूर करने वाला पूजनीय देव है। वह जगत का पालक तथा स्वामी एक ही नमस्कार करने योग्य है, सेवा करने योग्य है।[1]

वेद निश्चय पूर्वक यह घोषणा करता है कि "उस आदित्य वर्ण वाले ब्रह्म को जानकर मृत्यु से छूटा जा सकता है इसके अतिरिक्त मृत्यु के बंधन से छूटने का और कोई मार्ग नहीं है। वेद में ब्रह्म के अतिरिक्त किसी अन्य देवता की उपासना का विधान कहीं भी नहीं है। इस प्रकार वेद एकेश्वरवाद का प्रतिपादन करते हैं। वैदिक मान्यता है कि ईश्वर एक ही है।

वेदों में परमात्मा को सृष्टि का रचयिता माना है जिसकी महिमा व पराक्रम अपार है। परमात्मा जगत के भीतर भी व्याप्त है और सृष्टि से परे भी है अर्थात् यह सान्त सृष्टि उस परम पुरुष के सम्मुख कुछ भी नहीं है। वेद के अनुसार "असीम सा दिखने वाला यह ब्रह्माण्ड उस परमदेव के केवल एक पाद (अंशमात्र) में वर्तमान है बाकी तीन अमृतमय है।[2] परन्तु परमात्मा की महिमा केवल इन चार पादों तक ही सीमित नहीं है वरन् वह इससे भी अनन्त गुना अधिक है। वेद सृष्टि को असीम नहीं मानते वरन परमात्मा को

---

1. "दिवि स्पृष्टो यजतः सूर्यत्वगवयाता हरसो दैव्यस्य। मृडाद्गन्धर्वो भुवनस्य यस्पतिरेक एवं नमस्यः सुशेवाः।" अथर्ववेद 2-2-2

2. "पादोऽस्य विश्वाभूतानि त्रिपादस्य अमृतम् दिवि।" यजुर्वेद 31-3

अनन्त मानते हैं जो सृष्टि में व्याप्त है। वेदों के ईश्वरवाद में ईश्वर जगत का निर्माण कर कहीं चला नहीं जाता परन्तु वेदों के अनुसार ईश्वर सृष्टि में व्यापक है और अनन्त होने से सृष्टि से परे भी है।

वेदों में ईश्वर को सृष्टि का निमित कारण माना गया है। परमात्मा पूर्व विद्यमान प्रकृति से सृष्टि की उत्पति करता है। ठीक उसी प्रकार जैसे कुम्हार बर्तन बनाने के लिये मिट्टी का प्रयोग करता है। एक वैदिक मंत्र में कहा भी है कि "दो सुपर्ण अर्थात् ब्रह्म और जीव एक ही प्रकृति रूपी वृक्ष पर मित्रतायुक्त साथ-साथ रहते हैं। इनमें से एक (जीव) कर्मफलों का भोग करता है तथा दूसरा (परमात्मा) भोग न करता हुआ केवल उनका प्रकाश करता है।"[1] इस मंत्र में तीन अनादि तत्वों का संकेत किया गया है, एक ईश्वर जो सृष्टि का निमित कारण है दूसरा जीवात्मा जिसके भोग के लिए सृष्टि का निर्माण हुआ है तथा तीसरी प्रकृति जो कि सृष्टि की निर्माण सामग्री होने से सृष्टि का उपादान कारण है। दार्शनिक रूप में इसी को मूल प्रकृति अथवा प्रकृति की अव्यक्तावस्था भी कह सकते हैं। स्वामी दयानन्द इसे परमेश्वर की सामर्थ्य भी कहते हैं।

कुछ विद्वानो का मत है कि वेदों में सर्वेश्वरवाद है। सर्वेश्वरवाद के अनुसार ईश्वर ही सब कुछ है और सब कुछ ईश्वर है अर्थात् ईश्वर ही सृष्टि है और ईश्वर ही निर्माता है। लेकिन यह मत सही नहीं है। वेदों में परमात्मा

---

1. "द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्व जाते।
तयोरन्य: पिप्लं स्वाद्वत्यनश्नन्नन्यो अभिचाक शीति।।" (ऋ01-164-20

को शुद्ध, द्रष्टा, एवं अपरिणामी कहा गया है। फिर वह कैसे अपने को सृष्टि के रूप में परिवर्तित करेगा। परमात्मा चेतन है परन्तु सृष्टि जड़ है, परमात्मा आनन्दमय है परन्तु सृष्टि आनन्दरहित है। इससे सृष्टि का उपादान ईश्वर नहीं हो सकता। अतः वेदों में सर्वेश्वरवाद न होकर एकेश्वरवाद का प्रतिपादन है।

7. ईश्वर के संबंध में शंकर और रामानुज के मत

मध्यकालीन भारत के सबसे ज्यादा विद्वतापूर्ण दार्शनिक ब्रह्मज्ञानी शंकराचार्य थे। उनके अनुसार एक मात्र ब्रह्म की सत्ता है। आचार्य शंकर ब्रह्म को सत्ता मात्र निर्गुण तत्व मानते हैं। अनके मतानुसार ब्रह्म में गुणों को नहीं माना जा सकता क्योंकि गुणों के आरोप करने का तात्पर्य है सम्बन्ध करना परन्तु विशुद्ध ब्रह्म सम्बन्धरहित निर्गुण तत्व है। ब्रह्म सत्य एवं अनन्त ज्ञान स्वरूप है। "सत्यं ज्ञान अनंतं ब्रह्म" सत्य होने के कारण ब्रह्म आनन्द स्वरूप है। वास्तव में ब्रह्म का वर्णन नहीं किया जा सकता। शंकर उपनिषद वाक्य नेति-नेति का प्रमाण देते हैं और नेति-नेति का अर्थ समस्त गुणों से हीन करते हैं अर्थात् ब्रह्म समस्त विशेषणों, गुणों और वेदों से रहित है ब्रह्म रूप एवं आकार आदि से भी रहित है क्योंकि ब्रह्म निराकार है। परन्तु नेति-नेति का अर्थ नकार रूप में नहीं बल्कि इससे अचिन्त्य अनिर्वचनीय केवल सत्तामात्र की ओर निर्देश है।

यदि ब्रह्म को ही केवल सत्ता माना जाये तब यह संसार क्या है? शंकर कहते हैं कि केवल ईश्वर सत्य है और सब आभास है। प्राकृतिक घटना का अस्तित्व नहीं है बल्कि केवल अस्तित्व मालूम होता है। वह किसी वास्तविक जगत का सृष्टिकर्त्ता नहीं है। इसका मालूम होना अज्ञान या अविद्या है।

शंकर के तर्क निम्न उपमानों के ऊपर आधारित है-

§1§ जैसे स्वप्न में एक व्यक्ति अनेक चीजे देखता है जिसका स्वप्न वाले मस्तिष्क के बाहर अस्तित्व नहीं है। ठीक इसी प्रकार से जगत अनेक विविधताओं से केवल पूर्ण मालूम होता है और इस प्रकार से अवास्तविक है। केवल ईश्वर वास्तविक है।

§2§ जैसे थोड़े से अंधकार में हम लोग रज्जु के ऊपर सर्प की उपस्थिति का आरोप करते हैं। उसी प्रकार हम लोग गलती से अपने स्वयं के स्वप्न के ऊपर विश्व की उपस्थिति का आरोप करते हैं। यह केवल आरोपण है और वास्तविकता नहीं।

§3§ ठीक जैसे एक मृगतृष्णा की स्थिति में, मरुस्थल के विस्तार पर पानी की भ्रांति होती है उसी प्रकार से हमारी भ्रांति के कारण यह विश्व मालूम होता है। इसका वास्तव में अस्तित्व नहीं है।

§4§ जैसे एक जादूगर अपनी चाल से अनेक अवास्तविक और जिसका अस्तित्व नहीं है ऐसी चीजों की सृष्टि करता है। यही समान स्थिति विश्व के साथ भी लागू होती है।

आचार्य शंकर कहते हैं कि यह संसार सीपी में चांदी के समान ब्रह्म में आरोपित है। यह संसार अध्यास है और जीव अविद्या से ब्रह्म में आरोपित चैतन्य तत्व है। जीव ब्रह्म से अभिन्न है जो मोक्ष में ब्रह्म में लीन हो जाता है। शंकर मत में प्रकृति की कोई सत्ता नहीं है बल्कि यह अविद्या से जीव द्वारा ब्रह्म में आरोपित है। यद्यपि ब्रह्म इसका आधार है। तथापि यह ब्रह्म से पृथक है।

स्वामी दयानन्द शंकर के अद्वैतवाद की इस विचारधारा को सही नहीं मानते। उनके अनुसार ऐसा नहीं है कि ब्रह्म से न्यून सत्ता नहीं है। ब्रह्म से न्यून जीव व प्रकृति का अस्तित्व है यद्यपि वे ब्रह्म के सदृश नहीं है। उपनिषदें भी जब ब्रह्म को "सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवा द्वितीयम्" ﴾छान्दोग्य﴿ कहती है तब इसका तात्पर्य है कि ब्रह्म सदा एक है और जीव तथा प्रकृति तत्व अनेक हैं। उनसे भिन्न ब्रह्म के एकतत्व को सिद्ध करने वाला अद्वैत व अद्वितीय विशेषण है। इससे जीव वा प्रकृति का और कार्यरूप जगत का अभाव या निषेध नहीं होता। दयानन्द के अनुसार इसका अर्थ केवल यह है कि ब्रह्म सर्वोच्च शक्तिमान है जिसके तुल्य कोई दूसरा नहीं है। यमुनाचार्य भी शंकराचार्य के अद्वैतवाद का इसी प्रकार खण्डन करते हैं।

और भी शंकराचार्य ब्रह्म को दो दृष्टि से देखते हैं। उनके अनुसार ब्रह्म निर्गुण है और ईश्वर सगुण है। विशुद्ध ब्रह्म का माया में प्रतिबिम्ब ईश्वर है। ईश्वर ही इस जगत का अभिन्न निमितोपादान कारण है।

स्वामी दयानन्द शंकर की दो ब्रह्म की विचारधारा को स्वीकार नहीं करते। उनके अनुसार ईश्वर ब्रह्म ही का नाम है। यदि यह कहा जाये कि मायोपाधि से ईश्वर सिद्ध होता है तब दयानन्द आपत्ति करते हैं कि माया किसको उपाधिसहित करती है, क्या ब्रह्म को? यदि ब्रह्म को तब ब्रह्म माया के प्रभाव में आया कहा जायेगा और वह भी अनादि काल से क्योंकि माया भी ब्रह्म के सदृश अनादि है। दयानन्द के अनुसार यह विचार ठीक नहीं। इसी प्रकार ब्रह्म पूर्ण तथा निर्गुण भी नहीं माना जा सकता। यदि ब्रह्म को नितांत गुणरहित माना जाये तब उसके विषय में विचारों का उद्गार भी संभव नहीं हो

सकता। महर्षि दयानन्द कहते हैं कि ब्रह्म सगुण व निर्गुण दोनों है। "यद् गुणैस्सह वर्तमानं तत्सगुणम्," "गुणेभ्यो यन्निर्गतं पृथग्भूतं तन्निर्गुणम्" अर्थात् जो गुणों से सहित वह सगुण और जो गुणों से रहित है वह निर्गुण कहलाता है। अपने-अपने स्वाभाविक गुणों से सहित और दूसरे विरोधी गुणों से रहित होने से सब पदार्थ सगुण और निर्गुण हैं। कोई भी ऐसा पदार्थ नहीं है जिसमें केवल निर्गुणता वा केवल सगुणता हो किन्तु एक ही में सगुणता और निर्गुणता सदा रहती है। वैसे ही परमेश्वर अपने अनन्त ज्ञान बलादि गुणों से सहित होने से सगुण और रूपादि जड़ के तथा द्वेषादि जीव के गुणों से पृथक होने से निर्गुण है।[1] अत: जिस प्रकार का निर्गुण ब्रह्म श्री शंकराचार्य जी हमारे सम्मुख रखते हैं उसका तो विचार भी असम्भव है फिर उसकी उपासना कैसे की जा सकती है।

दयानन्द जी कहते हैं कि जीव को ब्रह्म से मानना भी ठीक नहीं क्योंकि इसे मानने से ब्रह्म के अनन्त, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त स्वभाव का बाध हो जायेगा और फिर सर्वशक्तिमान सर्वज्ञ ब्रह्म में अज्ञान मानना पड़ेगा। इसे वेदान्तियों ने माया कह कर टालने की चेष्टा की है। परन्तु यह माया क्या है और किसके आश्रय में रहती है? शंकर मत में माया अज्ञान अविद्या के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। ऐसी स्थिति में माया को ब्रह्म की शक्ति मानना पड़ेगा। इससे ब्रह्म के शुद्धत्व व निर्गुणत्व का बाध होता है। कुछ वेदान्ती माया को त्रिगुणात्मक प्रकृति मानते हैं। माया को त्रिगुणात्मक प्रकृति मानने पर ब्रह्म व प्रकृति इन दो पदार्थों को अनादि मानना ही पड़ेगा फिर ब्रह्माद्वैत कैसे सुरक्षित रह सकता है। इस मत में माया एक पहेली है जिसका कोई हल नहीं।

इन सारी समस्याओं के कारण ही सम्भवत: शंकराचार्य को परमार्थिक

---

1. स्वामी दयानन्द, सत्यार्थ प्रकाश, 1981, सप्तमसमुल्लास, पृष्ठ 133

व व्यावहारिक इन दो स्तरों को स्वीकार करना पड़ा। बिना व्यवहारिक स्तर को माने, वास्तविक दिखाई पड़ने वाले इस संसार का सन्तोषजनक हल नहीं निकाला जा सकता। व्यावहारिक दृष्टि से ही ईश्वर उपास्य है और जीव उपासक। उपासना का केन्द्र यही व्यवहार का ईश्वर है जो सगुण है तथा संसार का निर्माता है। लेकिन इनके मत में पारमार्थिक स्तर पर वास्तव में ब्रह्म के अतिरिक्त कुछ भी सत्य नहीं है। परन्तु शंकराचार्य की दो ब्रह्म की विचारधारा सही नहीं। उपनिषदों में या षड्दर्शनों में कहीं भी ब्रह्म द्वयवाद नहीं मिलता। उपनिषदें स्पष्ट कहती है "एकमेवाद्वितीयम्" अर्थात् ब्रह्म दो नहीं है। इसी प्रकार जयतीर्थ का मत है कि "ब्रह्म के दो रूप अप्रमाणिक होने से असिद्ध है।"[1] यही स्वामी दयानन्द का भी मत है।

इन सारी बातों के होते हुए भी जगतगुरू शंकराचार्य वास्तव में उन्हीं तीन वस्तुओं को मानते हैं जिन्हें महर्षि दयानन्द मानते हैं। शंकराचार्य का शुद्ध ब्रह्म ही महर्षि दयानन्द का परमात्मा है। शंकराचार्य का जीव अथवा अन्त:करण ही महर्षि की आत्मा है और शंकराचार्य की माया ही महर्षि की प्रकृति है। कहने को शंकर और दयानन्द में अन्तर अवश्य है परन्तु गहराई में जाकर क्रियात्मक रूप से देखने पर ज्ञात होगा कि दोनों में कोई अंतर नहीं, दोनों एकही बात कहते हैं।

श्री रामानुजाचार्य शंकर के ब्रह्माद्वैतवाद के विरुद्ध विशिष्टाद्वैत का प्रतिपादन करते हैं। रामानुज सिद्ध करते हैं कि "ईश्वर वस्तुत: सत्य और

---

1. जयतीर्थ, न्याय सुधा, पृष्ठ 124

स्वतंत्र है किन्तु जगत की आत्माएं भी वास्तविक हैं। यद्यपि उनकी वास्तविकता पूर्ण रूप से ईश्वर पर आश्रित है।"[1] रामानुज ब्रह्म व जीव में शरीरी-शरीर सम्बन्ध को मानते हैं। उनके अनुसार "वैयक्तिक आत्माएं और भौतिक जगत ईश्वर के शरीर का स्वरूप है।"[2] जैसे शरीर और शरीर में रहने वाला आत्मा यह दोनों मिलकर एक ही कहलाते हैं, तथापि पृथक हैं। उसी प्रकार यद्यपि जीवात्मा के गुण ईश्वर से पृथक हैं तथापि जीवात्मा ईश्वर से पृथक नहीं रह सकता। जीव विशेषण के रूप में ब्रह्म का ही एक अंश है तथा प्रकृति ईश्वर के शरीर के समान है।

किन्तु तब प्रश्न यह उठता है कि शरीर का क्या अर्थ है? कहा जा सकता है कि ईश्वर आत्मा है और हम लोग आत्माएं और भौतिक जगत जिसमें हम लोग रह रहे हैं सब ईश्वर के शरीर हैं। किन्तु शरीर कई चीजों का सूचक है। शरीर का विचार शरीर के प्रत्येक विशिष्ट उदाहरण के लिए उचित पाया जाता है। शरीर का विचार, ईश्वर के साथ सम्बन्ध में शरीर के वर्ग विचार से पूरी तरह से भिन्न है। क्योंकि शरीर का वर्ग विचार वैयक्तिक शरीर की कुछ विशिष्टताओं से हमेशा जुड़ा रहता है।

शरीर की परिभाषा रामानुज के भाष्य में यह बतायी गयी है। इस परिभाषा के अनुसार शरीर को कहा जा सकता है कि जो सम्पूर्ण को धारण

---

1. राधाकृष्णन्, भारतीय दर्शन, पृष्ठ 660
2. भारतीय दर्शन का इतिहास-सुरेन्द्र नाथ दास गुप्त, पृष्ठ 297

करने में समर्थ हो सके और आत्मा को संकल्प प्रयास के द्वारा पतन से रोक सके।

किन्तु यह परिभाषा व्यवहार की व्याख्या नहीं करती जो मानी जाये। आत्मा ईश्वर के शरीर का सारगुण है। आत्मा का कोई प्रभाव नहीं है और इस प्रकार से यह कल्पना करना मूर्खता है कि ईश्वर उसको पतन से रोकता है। और इस प्रकार से वे उससे शरीर की तरह संबंधित है।

सम्भवत: रामानुज का शरीर-शरीरी संबंध का सिद्धान्त वृहदारण्यको-पनिषद की उस श्रुति पर आधारित है जिसमें कहा गया है कि आत्मा जिसका शरीर है वह ब्रह्म है "यस्यात्मा शरीरम्" उनके मत का आधार उपनिषद का यही मंत्र है। दयानन्द के मत में इस मंत्र में आत्मा को ब्रह्म का शरीरवत् केवल उपमा के रूप में कहा गया है। संसार के समस्त पदार्थों से आत्मा अति सूक्ष्म और ब्रह्म उससे भी सूक्ष्म होने से आत्मा में भी व्यापक है जिसको जीवात्मा नहीं जानता। परन्तु यह आत्मा से भिन्न है और जीवात्मा का ब्रह्म से किसी भी प्रकार अद्वैत संबंध नहीं है। दयानन्द सत्यार्थ प्रकाश में कहते हैं- "रामानुज का इस अंश में, जो कि विशिष्टाद्वैत जीव और मायासहित परमेश्वर एक है यह तीन का मानना और अद्वैत का कहना सर्वथा व्यर्थ है।[1] दयानन्द व रामानुज में केवल इतना भेद है कि रामानुज ब्रह्म में स्वगत भेद को मानते हैं जबकि दयानन्द अखण्ड एकरस ब्रह्म में कोई भेद मानने को तैयार नहीं हैं।

---

1. स्वामी दयानन्द, सत्यार्थ प्रकाश, 1981, एकादशसमुल्लास, पृष्ठ 209

8· ईश्वर के संबंध में महर्षि दयानन्द की स्थापना

"यस्यात्मा शरीरम्" स्वामी दयानन्द इस प्रस्तावित दृष्टि को उसकी लाक्षणिक स्पष्टता के साथ सीधे और सही ढंग से आगे बढ़ाते हैं-

"य आत्मनि तिष्ठन्नात्मनोन्तरो यमात्मा न वेद यस्यात्मा शरीरम्।[1]

जो परमेश्वर आत्मा अर्थात जीव में स्थित और जीवात्मा से भिन्न है जिसको मूढ़ जीवात्मा नहीं जानता कि वह परमात्मा मेरे में व्यापक है जिस परमेश्वर का जीवात्मा शरीर अर्थात् जैसे शरीर में जीव रहता है वैसे ही जीव में परमेश्वर व्यापक है।

बात सरल है। शरीर शब्द ईश्वर की व्यापकता का उल्लेख करने के लिए उपमान के द्वारा प्रयोग किया गया है।

स्वामी दयानन्द का ईश्वर का विचार संक्षेप में इस प्रकार समझा जा सकता है।

(1) जो कुछ इस संसार में गतिशील है उस सब में व्याप्त होकर नियन्ता है वह ईश्वर कहलाता है।

(2) इस विश्व में जो कुछ है उस सब की सृष्टि और धारण करने वाला है।

(3) वह सब जगह है।

(4) वह सर्वशक्तिमान है। जिसका सीधा अर्थ है कि ईश्वर अपने काम अर्थात् उत्पत्ति, पालन, प्रलय आदि और सब चीजों के पुण्य पाप की यथायोग्य व्यवस्था करने में किंचित भी किसी की सहायता नहीं

1· बृहदारण्यक उ0, 3-7-22

लेता अर्थात् अपने अनन्त सामर्थ्य से ही सब अपना काम पूर्ण कर लेता है।

(5) वह अनादि है। अनादि अर्थात् जिसका आदि कोई कारण व समय न हो, उसको अनादि कहते हैं।

(6) ईश्वर अजन्मा और अविभाज्य है।

(7) वह सब जगह व्याप्त है और शरीर रहित है।

(8) जीव कभी उत्पन्न न हुआ अनादि है। ईश्वर और जगत का उपादान कारण नित्य है। जीव का शरीर तथा इन्द्रियों के गोलक परमेश्वर के बनाये हुये हैं परन्तु वे सब जीव के आधीन हैं।

भाषा वस्तुत: ईश्वरमीमांसीय है। किन्तु यह दार्शनिक पहलू को स्पष्ट करती है। यह स्वामी दयानन्द की तत्वमीमांसा का सार है। ईश्वर, आत्मा और पदार्थ तीन अनन्त (नित्य) हैं और सह अस्तित्व हैं। यद्यपि उनके भिन्न गुण हैं। धर्मशास्त्र सब रूपों में ईश्वर का विवेचन करता है। ईश्वर का विचार एक असंबंधित और पृथक विचार नहीं है। गुण रहित, क्रिया रहित और संबंध रहित ईश्वर स्वामी दयानन्द को अस्वीकार्य है।

दयानन्द के दर्शन में ईश्वर सर्वशक्तिमान है, नियामक है, निर्माता है, कर्मफल प्रदाता है जबकि जीव अल्पज्ञ है, स्वतंत्र कर्ता है तथा कर्मफल का भोक्ता है तथा प्रकृति सत् है, जड़ है तथा भोग्या है। तीनों के अनादि होने से दयानन्द का यह मत भारतीय दर्शन में त्रैतवाद के नाम से जाना जाता है।

अध्याय- 11

जीव या आत्मा

1. आत्मा का स्वरूप

महर्षि दयानन्द के अनुसार परमात्मा के अतिरिक्त अन्य चेतनतत्व जीवात्मा है। दयानन्द जीवात्मा को नित्य एवं चेतन पदार्थ मानते हैं। ये शरीर से पृथक आत्मा की सत्ता को एक शाश्वत सत्य के रूप में मानते हैं। वे भौतिकवादियों के अनात्मवाद को नहीं मानते, जिसके अनुसार शरीर स्थित चेतन शक्ति प्रकृति के भौतिक पदार्थों के संघात रूप में उत्पन्न हुई है। इसमें किसी स्थायी आत्मा के लिए जो नित्य एवं शाश्वत् है स्थान नहीं है। स्वामी दयानन्द इससे संतुष्ट नहीं होते। उनके अनुसार इसकी उत्पत्ति न तो प्रकृति के तत्वों से हुई है और न ही ब्रह्म से जैसा कि अद्वैत वेदान्तियों का कहना है। वे कहते हैं - "ईश्वर नाम ब्रह्म का है और ब्रह्म से भिन्न अनादि, अनुत्पन्न और अमृतस्वरूप जीव का नाम जीव है।"[1]

जीवात्मा स्वरूप से नित्य है। गीता में जीवात्मा के स्वरूप का इस प्रकार वर्णन किया गया है-

अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च ।
नित्य: सर्वगत: स्थाणुरचलोऽयं सनातन: ।।
अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते।
तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि ।।

" यह काटा नहीं जा सकता, जलाया नहीं जा सकता, पानी में गलाया

---

1. सत्यार्थ प्रकाश, सप्तमसमुल्लास, पृष्ठ 132

नहीं जा सकता और न वायु द्वारा सुखाया जा सकता है। यह सर्वत्र गति कर सकता है, एक जगह अचल और स्थिर भी रह सकता है। यह सनातन है। निराकार है, इसको मन से नहीं जाना जा सकता और यह अविकारी है अर्थात् यह एकरस एवं शुद्ध (निर्मल) है।"

गीता के उद्धरण से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि जीवात्मा अजन्मा और निराकार है। वेद और उपनिषद भी इसी बात की पुष्टि करते हैं। श्वेताश्वतर उपनिषद के अनुसार-"प्रकृति, जीव और परमात्मा तीनों अज अर्थात् जिसका कभी जन्म नहीं होता और न कभी ये जन्म लेते अर्थात् ये तीनों सब जगत के कारण हैं। इनका कारण कोई नहीं। इस अनादि प्रकृति का भोग अनादि जीव करता हुआ फंसता है और उसमें परमात्मा न फंसता है और न उसका भोग करता है।"[1]

स्वामी दयानन्द जीव का अस्तित्व ब्रह्म से पृथक परन्तु अनादि एवं शाश्वत् मानते हैं। शरीर के नष्ट होने पर जीव नष्ट नहीं होता वरन् दूसरे शरीर में चला जाता है क्योंकि जिस वस्तु का कभी निर्माण नहीं हुआ वह कभी विनष्ट भी नहीं होगी। उनके अनुसार "जीव उत्पन्न कभी न हुआ, अनादि है। जैसा ईश्वर और जगत का उपादान कारण नित्य है। और जीव का शरीर तथा इन्द्रियों के गोलक परमेश्वर के बनाये हुए हैं परन्तु वे सब जीव के आधीन है।

---

1. अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां वह्वी: प्रजा: सृजमाना: सरूपा।
अजोह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्य:।।
(श्वेत०4-5)

जो कोई मन, कर्म, वचन से पाप पुण्य करता है वही भोक्ता है ईश्वर नहीं।"[1]

जीव प्रकृति के साथ संयोग होने पर भोगों का आस्वादन करता है। कर्मानुसार उसे भिन्न प्रकार के शरीरों में प्रवेश करना पड़ता है। अन्य वैदिक दार्शनिकों की भांति स्वामी दयानन्द भी कर्म व कर्मफल को स्वीकार करते हैं। वह न्याय वेदान्त की तरह जीवात्मा को स्वतन्त्र कर्त्ता मानते हैं। जीव कर्म करने में स्वतंत्र अवश्य है परन्तु कर्मों का फल कर्मानुसार उसे परमात्मा द्वारा दिया जाता है। जैनियों का आक्षेप है कि कर्म स्वयं फल देते हैं। स्वामी दयानन्द का उत्तर है कि "यदि ईश्वर फल-प्रदाता न हो तो पाप के फल दुख को जीव अपनी इच्छा से कभी न भोगेगा, जैसे चोर आदि चोरी का फल दण्ड अपनी इच्छा से नहीं भोगते किन्तु राज्य व्यवस्था से भोगते हैं वैसे ही परमेश्वर के भुगाने से जीव पाप और पुण्य के फलों को भोगते हैं अन्यथा कर्मसङ्कर हो जायेंगे, अन्य के कर्म अन्य को भोगने पड़ेंगे"।[2]

कर्म जड़ है, चेतन नहीं। फिर जड़ कर्म किस प्रकार और कैसे फल दे सकते है। अत: किये गये कर्मों का फल भोगने में जीव ईश्वर पर आश्रित है।

सांख्य दर्शन जीव को अकर्ता कहता है। परन्तु जीवात्मा के अकर्ता होने से संसार में पाप-पुण्य की व्यवस्था नहीं रहेगी। जीव को स्वतंत्र कर्त्ता न मानने पर कर्मफल का सिद्धांत नष्ट हो जायेगा। दयानन्द सांख्य दर्शन के इस मत को

---

1. स्वामी दयानन्द, सत्यार्थ प्रकाश, सप्तसमुल्लास, पृष्ठ 127
2. स्वामी दयानन्द, सत्यार्थ प्रकाश, द्वादशसमुल्लास, पृष्ठ 288

नहीं मानते। उनके अनुसार जीव कर्त्ता और भोक्ता है और ईश्वर कर्मफल प्रदाता है।

सर्वज्ञ और अज्ञानी, सर्वशक्तिमान और असमर्थ, ये दोनों ईश्वर और जीव है और ये अजन्मा हैं। किन्तु जीवात्मा स्वभाव से अल्पज्ञ है अर्थात् वह अल्पज्ञानी है परमात्मा के समान अनन्त ज्ञानी नहीं।

इस पर जैनियों का आक्षेप है कि जीव में ज्ञान गुण विद्यमान है। जानना उसका स्वभाव है। जीव का यह स्वभाव संसारी दशा में कर्मों से आच्छादित रहने के कारण पूरे तौर से प्रकट नहीं हो पाता है, परन्तु जिस समय कर्म आत्मा से बिल्कुल अलग हो जाते हैं उस समय ज्ञान पूरे तौर से प्रकट हो जाता है। उस समय जीव सर्वज्ञ हो जाता है।

यह कथन सर्वज्ञता का साधक नहीं है। जानना जीव में रहते हुए भी प्रश्न यह उठता है कि वह सर्वज्ञता के स्वभाव वाला है या नहीं। यदि सर्वज्ञता के स्वभाव वाला है तो फिर संसारी अवस्था में वह स्वभाव कहां चला गया? यदि सर्वज्ञता के स्वभाव वाला नहीं है, यदि ये ज्ञान, दर्शन आदि अल्पज्ञता की स्थिति में जीव के स्वभाव है तो फिर जीव कभी भी सर्वज्ञ नहीं हो सकता। सर्वज्ञ के ज्ञान को कभी कोई वस्तु आच्छादित नहीं कर सकती है। सर्वज्ञ वही हो सकता है जिसका अपना स्वाभविक धर्म सर्वज्ञता हो।

महर्षि दयानन्द के अनुसार "जीव मुक्त होकर भी शुद्धस्वरूप, अल्पज्ञ और परिमित गुण कर्म स्वभाव वाला रहता है परमेश्वर के सदृश कभी नहीं हो सकता।"[1]

---

1. स्वामी दयानन्द, सत्यार्थ प्रकाश, 1981, नवमसमुल्लास, पृष्ठ 165

जीवात्मा स्वरूप से अजन्मा है, निराकार है और निर्विकार भी परन्तु प्रकृति के सहयोग से वह अपने इन गुणों से वियुक्त सा हो गया है। जीवात्मा को भौतिक देह का माध्यम मिल जाने पर वह प्रकृतिजन्य सुख और दुख का भोग करता है। जीवात्मा सारे व्यापार मन द्वारा करता है। स्वामी दयानन्द के अनुसार मन प्रकृति का विकार है। जीवात्मा के सम्पर्क में आने से मन चेतनवत् प्रतीत होने लगता है। इससे अनेक विद्वान जीव व मन में भेद नहीं कर पाते। वैदिक दार्शनिक मन को ज्ञान प्राप्ति व धारण करने का साधन मानते हैं। जीवात्मा को बाह्य संसार का ज्ञान इन्द्रियों के द्वारा मन से होता है। विषय का इन्द्रियों से और इन्द्रियों का मन से तथा मन का आत्मा से सम्पर्क होने पर ही जीवात्मा विषय का ज्ञान प्राप्त करता है। उसे सुख दुख का अनुभव भी मन और इन्द्रियों द्वारा होता है। इस सम्बन्ध में उपनिषद कहता है- "आत्मेन्द्रिय मनोयुक्तं भोक्त्रेत्याहुर्मनीषिणः।" (कठ0 1-3-4)

आत्मा के साथ जब इन्द्रियों और मन का संयोग हो जाता है तभी वह भोक्ता हो जाता है।

2. आत्मा और ईश्वर

परमात्मा और जीवात्मा के चेतन्य रूप में कोई भेद नहीं, पर अन्य अनेक प्रकार के भेद हैं। दयानन्द के अनुसार "यद्यपि दोनों चेतनस्वरूप है। स्वभाव दोनों का पवित्र, अविनाशी और धार्मिकता आदि है। परन्तु परमेश्वर के सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय, सब को नियम में रखना, जीवों को पाप पुण्यों के फल देना आदि धर्मयुक्त कर्म है और जीव के सन्तानोत्पति उनका पालन, शिल्पविद्या आदि अच्छे बुरे कर्म है। ईश्वर के नित्यज्ञान आनन्द अनन्त बल आदि गुण है और जीव के पदार्थों की प्राप्ति की अभिलाषा बैर या दुखादि

की अनिच्छा, पुरुषार्थ, आनन्द, अप्रसन्नता, विवेक या पहिचानना आदि गुण हैं। ये छह गुण न्याय के अनुसार हैं।"[1] वैशेषिक इनमें कुछ गुण और जोड़ देता है जैसे प्राणवायु को बाहर निकालना, प्राण को बाहर से भीतर को लेना, आँख को मींचना, आँख को खोलना, प्राण को धारण करना, निश्चय, स्मरण और अहंकार करना, चलना, सब इन्द्रियों को चलाना, भिन्न-भिन्न क्षुधा, तृषा, हर्ष, शोकादियुक्त होना आदि।

"ये जीवात्मा के गुण परमात्मा से भिन्न हैं। इन्हीं से आत्मा की प्रतीति करनी चाहिए क्योंकि वह स्थूल नहीं है। जब तक आत्मा देह में रहता है तभी तक ये गुण प्रकाशित रहते हैं और जब शरीर छोड़ के चला जाता है तब ये गुण शरीर में नहीं रहते।"[2]

दयानन्द भिन्न शरीरों में आत्माओं के पृथक् अस्तित्व को स्वीकार करते हैं। वह लिखते हैं- "यदि एक आत्मा सब में व्याप्त होती तो जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति, मरण, जनम, संयोग, वियोग, जाना, आना, कभी नहीं हो सकता। इसलिए जीव का स्वरूप अल्पज्ञ, अल्प अर्थात् सूक्ष्म है और परमेश्वर अतीव सूक्ष्मात्सूक्ष्मतर, अनन्त, सर्वज्ञ और सर्वव्यापक स्वरूप है। इसलिए जीव और परमेश्वर का व्याप्य व्यापक संबंध है।"[3]

---

1. इच्छाद्वेषप्रयत्नसुखदुःखज्ञानान्यात्मानो लिंगमिति ।। न्यायसूत्र।। (1,1,10)
2. स्वामी दयानन्द, सत्यार्थ प्रकाश, 1981, सप्तमसमुल्लास, पृष्ठ 128
3. वही,

इस पर एक आपत्ति उठती है कि जिस जगह में एक वस्तु होती है उस जगह में दूसरी वस्तु नहीं रह सकती। इसलिए जीव और ईश्वर का संयोग संबंध हो सकता है व्याप्य व्यापक नहीं। लेकिन दयानन्द उत्तर देते हैं- "यह नियम समान आकार वाले पदार्थों में घट सकता है असमानाकृति में नहीं। जैसे लोहा स्थूल, अग्नि सूक्ष्म होती है, इस कारण से लोहे में विद्युत अग्नि व्यापक होकर एक ही अवकाश में दोनों रहते हैं, वैसे जीव परमेश्वर से स्थूल और परमेश्वर जीव से सूक्ष्म होने से परमेश्वर व्यापक और जीव व्याप्य है।"[1]

दयानन्द की तरह रामानुज भी द्वैतवादी हैं। लेकिन रामानुज ईश्वर और आत्मा के बीच निम्न सम्बन्ध मानते हैं।

रामानुज ईश्वर और जीव के बीच कारण और कार्य का संबंध मानते हैं। उनके अनुसार जीव ईश्वर का परिणाम (कार्य) है। दूसरे, रामानुज ईश्वर और आत्मा के बीच द्रव्य और गुण का संबंध मानते हैं। ईश्वर द्रव्य है और जीव गुण। रामानुज जीव और ईश्वर के बीच शरीर और आत्मा का भी संबंध मानते हैं।

दयानन्द के अनुसार रामानुज का जीव और ईश्वर का संबंध स्वीकार नहीं किया जा सकता। इसमें कोई संदेह नहीं कि ईश्वर और जीवात्मा का अस्तित्व एक साथ है तो भी अनन्तकाल से एक दूसरे से भिन्न हैं। लेकिन यह आवश्यक नहीं कि उनके बीच कारण और कार्य का या द्रव्य और गुण का संबंध होना चाहिए। जीव ब्रह्म का परिणाम (कार्य) नहीं हो सकता क्योंकि इस

---

1. स्वामी दयानन्द, सत्यार्थ प्रकाश, 1981, सप्तमसमुल्लास, पृष्ठ 129

स्थिति में ब्रह्म विकारी या परिवर्तनीय हो जायेगा। कारण हमेशा कार्य से पहले होता है और इस स्थिति में दो का एक साथ होना सिद्ध नहीं किया जा सकता। यह कहना कि ब्रह्म भौतिक कारण है या मुख्य कारण है अनुभव के द्वारा अमान्य है। जब साधारण अनुभव में दो चीजें एक साथ नहीं घट सकती तो वही बात विलक्षण रूप में ब्रह्म के विषय में कैसे घट जायेगी?

दयानन्द के अनुसार जीव ईश्वर का गुण भी नहीं हो सकता। द्रव्य और गुण के बीच संबंध आत्मा और ईश्वर के बीच के संबंध के अनुरूप नहीं हो सकता। आत्मा का मुक्त स्वभाव, जन्म और मृत्यु, दर्द और आनन्द भीतरी चेतना के क्रम का सम्पूर्ण सिद्धांत प्रदर्शित करता है कि आत्मा केवल ईश्वर का गुण नहीं है।

दूसरा संबंध ईश्वर और आत्मा के बीच शरीरी और शरीर का है। यदि इसका अर्थ केवल यह है कि ईश्वर अपनी सूक्ष्मता के द्वारा आत्मा में स्वयं व्याप्त है, इसमें कोई आपत्ति नहीं है, लेकिन यह मानना कि ईश्वर आत्मा के स्वरूप में उसी तरह फंसता है जैसे आत्मा शरीर में फंसती है। यह स्वीकार नहीं किया जा सकता। क्या एक असीम अपरिवर्तनीय ईश्वर आत्मा के समान शरीर में प्रविष्ट कर सकता है। अतः ईश्वर और जीव के बीच शरीरी और शरीर का सम्बन्ध नहीं हो सकता।

3. जीवात्मपरिच्छिन्नवाद

दार्शनिक साहित्य में जीव के परिमाण के विषय में तीन धारणायें प्रचलित हैं, विभु, मध्यम व अणु। यदि प्रत्येक आत्मा को विभु माना जाता है, तो प्रत्येक देह-इन्द्रिय आदि के साथ प्रत्येक आत्मा का संबंध बने रहने से

कहीं भी देहान्तर में प्रत्येक आत्मा को ज्ञान होने का प्रसंग प्राप्त होता है, परन्तु ऐसा नहीं होता अत: जीवात्मा विभु नहीं हो सकता। कुछ आचार्यों ने आत्मा का अणु होना स्वीकार किया है। अणु एवं परिच्छिन्न पद आत्मा के एकदेशीय होने का कथन करते हैं। इससे यह स्पष्ट होता है कि आत्मा न सर्वव्यापक है न मध्यम परिमाण। मध्यम परिमाण का तात्पर्य है कि जीवात्मा सारे शरीर में फैला हुआ है। यह जैनियों का मत है। उनके अनुसार वह जिस शरीर में भी जाता है उसी का आकार ग्रहण कर लेता है तथा जैसे-जैसे शरीर की वृद्धि होगी वैसे-वैसे जीवात्मा भी शरीर में फैलता जायेगा। इससे जीवात्मा अवयवी हो जायेगा। अवयवों के संयोग वियोग के कारण जीव विकारी हो जायेगा। अत: जैन मत ठीक नहीं है क्योंकि उसमें जीवात्मा विकारी अर्थात् उत्पत्ति नाश वाला हो जायेगा जबकि वह नित्य व अमर है।

फलत: आत्मा को एकदेशी परिच्छिन्न माना जाना युक्तियुक्त है। इसके अनुसार जीवात्मा परमाणु के समान सूक्ष्म है। जो सूक्ष्म जीवों से लेकर स्थूल से स्थूल प्राणियों के शरीरों में बिना विकार को प्राप्त हुए आ व जा सकता है। यह दयानन्द का मत है। उनके अनुसार अणु जीवात्मा शरीर में रहकर सारे शरीर का नियंत्रण मनादि के द्वारा करता है। रामानुज के मत भी जीवात्मा अणु है परन्तु ईश्वर के शरीरवत् है। लेकिन दयानन्द के अनुसार जीव अणु रूप ब्रह्म से पृथक नित्य है। स्वामी दयानन्द की यह धारणा उपनिषदों में भी पाई जाती है।

उपनिषदों में अनेकत्र आत्मा को अणु अथवा परिछिन्न बताया गया है। मुण्डक उपनिषद् में कहा है- इस अणु आत्मा को शुद्ध चित से जानने का यत्न करना

चाहिए।[1] श्वेताश्वतर उपनिषद में भी कहा गया है कि "एक बाल के अग्रभाग को दस सहस्त्र बार विभक्त किया जाए जीवात्मा को उतने परिमाण वाला समझना चाहिए।"[2] इस प्रकार अनेक वैदिक प्रमाण जीवात्मा के अणु परिमाण को प्रकट करते हैं।

न्यायदर्शन के वात्स्यायन भाष्य में लिखा है- "प्रत्येक देह में सब विषयों को ग्रहण करने वाला एक आत्मा रहता है जो यथावसर होने वाले ज्ञान तथा स्मृतियों का प्रतिसन्धान करता है, अन्य देहों में जिसके न होने से वहाँ प्रतिसंधान नहीं हो सकता।"[3] इसके अनुसार एक आत्मा का एक देह में रहना प्रमाणित होता है। जहाँ रहता है, वहाँ ज्ञान आदि का अनुभव व स्मरण करता है। न वह अन्यत्र रहता है, न उसे वहाँ ज्ञान आदि का होना संभव है। इसलिए जिस काल में जो आत्मा जिस किसी एक देह में रहता है, वही उसका निवास होने से आत्मा परिच्छिन्न अथवा अणु है।

4· आत्मा की अमरता और नित्यता

यह सामान्यत: विश्वास किया जाता है कि आत्मा अमर है। शरीर के नष्ट होने पर वह मरती नहीं। जो इस बात को मानते हैं वो इसकी चिन्ता नहीं करते कि वह कहाँ जाती है। अमरता का अर्थ क्या है? इसमें संदेह नहीं कि

1· "एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्य:" मुण्डक उपनिषद 3, 1, 9

2· "वालाग्र शतभागस्य शतधा कल्पितस्य च।

जीवो भाग: स विज्ञेय: स चानन्त्याय कल्पते।" श्वेता० उपनिषद 5, 9

3· न्यायदर्शन, वात्स्यायन भाष्य, 3/1/15

मृत्यु के बाद जीवित रहती है लेकिन कितने समय तक? क्या नित्यता के अंत तक? अधिकांश दार्शनिक इस प्रश्न का कोई उत्तर नहीं देते। कांट आत्मा की अमरता में विश्वास करते हैं लेकिन वह नित्यता की धारणा का परीक्षण नहीं करते। जब वे इस जन्म से सुख दुखों के आधार पर पूर्व जन्म को मानते हैं तब ऐसा प्रतीत होता है कि वे आत्मा को नित्य मानते हैं क्योंकि पूर्व जन्म के आधार पर इससे भी पूर्व का जन्म और उसके आधार पर अन्य पूर्वजन्म, इस प्रकार आत्मा के अनेक जन्म माने जा सकते हैं और फिर जीवात्मा को नित्य माना जा सकता है लेकिन कांट इस पर स्पष्ट नहीं हैं।

यदि नित्यता का अर्थ सीमारहित और अंतहीन अवधि है तो क्या आत्मा के अस्तित्व का कभी अंत नहीं होगा? यदि हाँ तो इसका अर्थ मृत्यु को अस्वीकार करना है। यदि आत्मा अमर है तो क्या इसका अर्थ यह भी है कि इसका कभी जन्म नहीं हुआ। आत्मा की अमरता यद्यपि बहुत अस्पष्ट है तो भी अनेक प्राचीन दार्शनिकों का उसमें विश्वास है। उदाहरण के लिए अरस्तू विश्वास करते हैं कि आत्मा अमर है लेकिन उनके विश्वास में त्रुटि है। अरस्तू के अनुसार आत्मा यदि यह वैयक्तिक है, अमर नहीं है। अमरता केवल उस बुद्धि से संबंध है जो विभिन्न बुद्धिमान प्राणियों में अवैयक्तिक और पूर्णतः समरूप है। यदि यह विचार है तो इसमें वैयक्तिक पाप, वैयक्तिक ईश्वरभक्ति और वैयक्तिक मोक्ष के लिए कोई स्थान नहीं है।

ईसाई विचारक संत थोमस एक्विनास ने जीवात्मा को अमर तो माना है परन्तु नित्य नहीं माना। उनके अनुसारईश्वर जन्म के समय प्रत्येक प्राणी के लिए नये जीवात्मा की उत्पत्ति करता है। डेकार्ट पर भी इनका प्रभाव मालूम

देता है यद्यपि डेकार्ट ने तीन पदार्थ स्वीकार किये हैं, ईश्वर, जीव और प्रकृति परन्तु उनका विचार है कि ईश्वर ज्यादा वास्तविक है और क्योंकि जीव व प्रकृति ईश्वर ने बनाये हैं यदि वह चाहे तो उन्हें नष्ट भी कर सकता है।[1] इसमें जीवात्मा अपने अस्तित्व के लिए ईश्वर की कृपा पर आश्रित हो जाता है। यह विश्वास अमरता के लिए ठीक नहीं है। ईसाई अमरता के इस विचार को स्पिनोजा ने अस्वीकार किया। वह विश्वास करते थे कि वैयक्तिक आत्मायें और प्रकृति पदार्थ नहीं है बल्कि केवल ईश्वर के रूप हैं। स्पिनोजा के मत में जीवात्मा के अनादि परमात्मा का रूप होने से उसके नित्यत्व व अमरत्व का प्रश्न ही बेकार है। नैतिक जीवन का आधार आत्मा को अमर माने बिना नहीं चल सकता। कांट ने भी नैतिक जीवन की आवश्यकता के लिए आत्मा की अमरता पर बल दिया है।

गीता में आत्मा की अमरता के विषय में ठोस समर्थन पाते हैं। गीता में कहा गया है कि "इस (आत्मा) को शस्त्र भेद नहीं सकते, आग जला नहीं सकती, पानी गला नहीं सकता और वायु सुखा नहीं सकती।"[2]

एक अन्य श्लोक गीता में इस प्रकार है- "जैसे मनुष्य पुराने वस्त्रों को

---

1. Russell, B, History of Western Philosophy P.594

2. नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि, नैनं दहति पावकः ।
   नैनं क्लेदयन्त्यापः न शोषयति मारुतः ।।
   (गीता II, 23)

त्यागकर नये वस्त्र धारण करता है वैसे ही जीवात्मा पुराने शरीरों को त्यागकर नयी देह प्राप्त करता है।"[1]

यह स्पष्ट है कि यहाँ आत्मा की अमरता से तात्पर्य है। आत्मा ही एक शरीर से दूसरे शरीर में जाती है किन्तु यहाँ आत्मा के अनादित्व का सीधा उल्लेख नहीं है। यह श्लोक सूचित करता है कि यहाँ जन्म के पहले जीवन है उसी प्रकार से जैसे मृत्यु के बाद जीवन और यदि प्रत्येक वर्तमान जीवन उसका बीता कल है, तो आत्मा अमर नहीं है बल्कि नित्य भी है।

श्रुतियों में जीवात्मा का उत्पन्न होना नहीं कहा गया है। जीव की शरीर से उत्पत्ति नहीं होती उसे नित्य माना गया है। "यह विज्ञान स्वरूप जीव न तो जन्मता है न मरता है, यह अजन्मा नित्य शाश्वत और पुराण है। शरीर का नाश होने पर भी इसका नाश नहीं होता।"[2]

वृहदारण्यकोपनिषद में कहा गया है "वही यह महान अजन्मा आत्मा अजर, अमर, अमृत एवं अभय ब्रह्म है।"[3]

आत्मा के अमरत्व एवं नित्यता के विषय में श्रुति-स्मृति-इतिहास पुराण आदि में सहस्त्रशः प्रमाण है। सारे धर्मग्रंथ आत्मा की नित्यता को प्रमाणित करते हैं।

---

1. वासांसि जीर्णानि यथा विहाय, नवानिगृहणाति नरोऽपराणि ।
   तथा शरीराणि विहाय जीर्णानि, अन्यानि संयाति नवानि देही ।।
2. न जायते म्रियते वा विपश्चित:- (कठोपनिषद 2/18)
3. "स वा एष महानज आत्माजरोऽमरोऽमृतोऽभयो ब्रह्म।" (वृ0उ04/4/25)

आत्मा अजन्मा और अमर है। जीवन जिसे इस भौतिक जगत में हम लोग जानते हैं केवल एक साकार आत्मा है। आत्मा या प्राण एक भौतिक माध्यम के सम्पर्क मे आती है जिसे शरीर कहते हैं, यह सम्पर्क आरम्भ और अंत दोनों में होता है। आरम्भ जन्म की अवधि का सारगुण है और अंत मृत्यु का और उनके बीच की अवधि जीवन है।

इस विचार के अनुसार आत्मा नित्य है, अनादि और अविनाशी है। किन्तु आत्मा का साकार रूप जन्म और मृत्यु दोनों का विषय है। यह स्वामी दयानन्द के विचार हैं। उनके अनुसार "ईश्वर, जीव (आत्मा) और जगत का कारण तीनों अनादि हैं।"[1]

आत्मा को यदि नित्य न माना जाये तो भी शरीर का वियोग तो होगा ही। किन्तु परलोक में जाना और वहाँ से पुन: लौटकर आना इस क्रिया की सिद्धि अपने स्वरूप से होती है। जो परलोक जाता है वही लौटकर आता है दूसरा नहीं। इससे सिद्ध होता है कि शरीर के नाश से जीवात्मा का नाश नहीं होता। वह सदा ही रहता है।

5• आत्मा का पुर्नजन्म

जीवात्मा अजर, अमर एवं अविनाशी है। उसे अपने अनादि कर्मों के अनुसार शरीर प्राप्त होते हैं, उनके द्वारा वह शुभाशुभ कर्मों के फलों को भोगता है और पुर्वसंस्कारों के अनुसार कर्म करता रहता है। उसके लिए कर्म नष्ट नहीं होते बाद में भी फल देते रहते हैं। सब कर्मों का फल तुरन्त ही नहीं मिल जाता,

---

1• स्वामी दयानन्द, सत्यार्थ प्रकाश, 1981, अष्टमसमुल्लास, पृष्ठ 140

इस जन्म में जो कर्म किये हैं, उनका भोग यहीं समाप्त नहीं हो जाता, इसी लिए शेष कर्मफल-भोग के लिए दूसरा जन्म होता है। इस प्रकार जब तक जीवों के कर्म एवं उनके संस्कार बने रहते हैं, तब तक जन्म-मरण रूपी संसृति चक्र चलता रहता है।

जन्म और मृत्यु का रहस्य अत्यन्त गूढ़ है। वेदों में, दर्शनशास्त्रों में, उपनिषदों में तथा पुराणों में ऋषियों ने इस विषय पर विस्तृत विचार किये हैं। गीता से भी यह ज्ञात होता है कि जन्म लेने वाले की मृत्यु और मरने वालों का जन्म अवश्य होता है।[1] जब मनुष्य शरीर त्याग करता है, तब इस जन्म की विद्या, कर्म और पूर्वप्रज्ञा या वासना आत्मा के साथ जाती है। इसी ज्ञान और कर्म के अनुसार पुनर्जन्म होता है।

पुनर्जन्म भारतीय दर्शन का एक प्रमुख तथा विवेच्य विषय है। करीब-करीब सभी दर्शन शास्त्र स्पष्टत: पुनर्जन्म प्रतिपादक हैं। आस्तिक दर्शनों में पुनर्जन्म का सिद्धान्त निर्विवाद सा मान लिया गया है। बौद्ध तथा जैन वेदों को मान्यता नहीं देते पर पुनर्जन्म का सिद्धान्त उनको भी स्वीकार है। न्याय दर्शन का तो यह एक प्रतिपाद्य विषय है। न्यायदर्शन कहता है:- "आत्मा यदि शरीर के बाद भी रहता है, नित्य है, तो पूर्व कर्मों के भोग के लिए पुनर्जन्म मानना ही होगा।"[2]

---

1. जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च। " गीता, 2/27
2. "आत्मनित्यत्वे प्रेत्यभावसिद्धि" न्यायदर्शन, 4/1/10

मीमांसा दर्शन में भी पुर्नजन्म का सिद्धान्त मिलता है। वे जीवात्मा की जगह "आतिवाहिक" अर्थात् एक शरीर से दूसरे शरीर तक ले जाने वाले देहाभिमानी देवता की बात कहते हैं। सांख्य आत्मा को सर्वव्यापक मानते हुए भी एक दूसरे "लिंग" शरीर की सत्ता मानता है। यह "लिंग" या सूक्ष्म शरीर ही एक देह छोड़ दूसरी ग्रहण करता है। न्याय तथा वैशेषिक भी आत्मा को सर्वव्यापी मानते है और अणुरूप मन द्वारा एक शरीर से दूसरा शरीर प्राप्त करने की बात कहते हैं। योग, आत्मा इन्द्रियां और अहंकार तीनों को व्यापक मानता है और अहंकारादि से युक्त वासनाओं के कारण ही फलोपभोग की बात करता है। तात्पर्य यह है कि शास्त्रकारों में विचार भेद तो है, किन्तु पुनर्जन्म को किसी न किसी रूप में सब मानते हैं।

चार्वाक मत वाले अवश्य भौतिकवादी हैं। इस जन्म और इस लोक के अतिरिक्त वे न पुनर्जन्म मानते हैं, न किसी परलोक की सत्ता स्वीकार करते हैं। ईसाई तथा मुसलमान भी पुनर्जन्म में विश्वास नहीं रखते। जर्मनी का प्रसिद्ध दार्शनिक एमैन्युल कांट ईसाई होते हुए भी आचारशास्त्र के आधार पर पुनर्जन्म को अप्रत्यक्षरूप से मान्यता अवश्य दे गया। इसके अनुसार यदि हमारा जीवन अर्थहीन नहीं है, यदि इसका कुछ उद्देश्य है तो हमारे वर्तमान जीवन की छोटी सी अवधि कुछ भी करने के लिए बहुत कम है। इसलिए यह विश्वास करना सर्वथा तर्कसंगत है कि हम क्रम से प्रगति करते हैं मनुष्य के आध्यात्मिक विकास में एक क्रम है। एक जन्म इसके लिए पर्याप्त नहीं है। भावी अनेक जन्मों में ही यह सम्भव है। इसलिए भी पुनर्जन्म को मानना पड़ता है।

दयानन्द अन्य भारतीय दार्शनिकों की तरह यह मानते हैं कि जीवात्मा

मृत्यु के पश्चात् वर्तमान शरीर को छोड़कर अपने कर्मानुसार अन्य शरीर धारण कर लेता है। अत्यन्त निकृष्ट कर्म करने वाले वृक्षादि योनियों में जाते है, नीच स्वभाव वाले पशु श्रेणी में और सज्जन व अच्छे कर्म करने वाले मनुष्य जन्म पाते हैं। इन तीनों योनियों में भी अनेक भेद हैं जिन्हें जीव कर्मों के आधार पर प्राप्त करता है। अनेक मनुष्य ऐसा प्रश्न करते हैं कि पूर्व जन्म के कर्मों का ज्ञान हमें इस जन्म में क्यों नहीं होता? दयानन्द कहते हैं कि जीव अल्पज्ञ है, त्रिकाल-दर्शी नहीं इसलिए स्मरण नहीं रहता। जब हम इसी जन्म के व्यवहारों को इसी शरीर में भूल जाते है तो फिर पूर्व जन्म के व्यवहारों का ज्ञान कैसे रह सकता है? लेकिन योगाभ्यास से मन के शुद्ध होने पर पूर्वजन्म को जीव जान सकता है।

पूर्वजन्म, पुनर्जन्म सभी का एक कारण है- कर्म। कर्मों का क्षय भोग से, ज्ञान एवं प्रभु की पराभक्ति से हो सकता है। पराभक्ति द्वारा प्रभु का साक्षात्कार होने पर कर्मों की निवृति एवं मुक्ति हो जाती है फिर पुनर्जन्म नहीं होता है।

6• मुक्ति या मोक्ष

भारतीय दर्शन में प्रायः सभी दार्शनिकों ने जीवन की मुख्य समस्या दुख को दूर करने के प्रयत्न किये हैं। दुख अर्थात् बंधन से छूटना "मुक्ति" है। यह एक पारिभाषिक दार्शनिक शब्द है जिसका अर्थ है सदा-सदा के लिए जन्म मरण के दुखपूर्ण बन्धन से मुक्त हो जाना। दूसरे शब्दों में निरतिशय दुख की निवृति जन्म मरण के प्रवाह से मुक्त हो जाने पर ही सम्भव है।

जीवात्मा बद्ध है इसी ये इसको मुक्ति की आवश्यकता है। ईश्वर

सदा मुक्त है अर्थात् बन्धन से पृथक है, इसलिए इसको मुक्त स्वभाव कहते हैं। किन्तु जीवात्मा स्वभाव से न बद्ध है न मुक्त। स्वामी दयानन्द के अनुसार जीव को प्रकृति के संग से बद्धता आती है। जीवात्मा के बन्धन में आने में उसकी अपनी अल्पज्ञता ही मुख्य कारण है। दयानन्द के शब्दों में "जो मनुष्य विद्या और अविद्या के स्वरूप को जानता है वह अविद्या अर्थात कर्मोपासना से मृत्यु को तरके विद्या अर्थात् यथार्थ ज्ञान से मोक्ष को प्राप्त होता है।"[1]

मोक्ष, कैवल्य, निर्वाण, निःश्रेयस, अमृत, अपवर्ग आदि मुक्ति के अनेक नाम हैं। सभी दर्शनों की मुक्ति के संबंध में अलग-अलग प्रकार की मान्यताएं हैं। अपनी-अपनी मान्यताओं के अनुसार दार्शनिकों ने मुक्ति के लिए पृथक-पृथक शब्दों का प्रयोग किया है। उपनिषदों में बार-बार जिसे "अमृतत्व की प्राप्ति" कहा गया है। सांख्य, योग उसे "कैवल्य" कहता है। न्याय "निःश्रेयस", बौद्ध "निर्वाण"। इसी प्रकार अन्यान्य दर्शन "अपवर्ग" तथा "मोक्ष" आदि शब्दों का प्रयोग करते हैं।

सर्वथा प्रत्यक्षवादी चार्वाक-"मरणमेवापवर्गः" मरण को ही मोक्ष कहता है क्योंकि वह स्पष्ट शब्दों में परलोक मात्र का खण्डन करता है। जैन दर्शन में कर्म के आत्यान्तिक क्षय को ही मोक्ष कहते हैं। उनके अनुसार कर्म से उत्पन्न देह में जब आवरण न हो तो जीव का निरन्तर ऊपर उठते जाना ही मोक्ष है। शून्यवादी आत्मा का उच्छेद होना मोक्ष मानते हैं। "निर्वाण" को उन्होंने दुख निरोध के नाम से चार आर्य-सत्यों में सम्मिलित किया है। इस प्रकार अनीश्वरवादी बौद्ध व जैन, षडवैदिक दर्शन और उपनिषद सभी सांसारिक दुखों

---

1. स्वामी दयानन्द, सत्यार्थ प्रकाश, नवमसमुल्लास, पृष्ठ 158

से छूटने का उपदेश करते हैं। सांख्य दर्शन कहता है कि मनुष्य का परम उद्देश्य दुखों का अत्यन्त नाश करना है।[1] न्याय दर्शन दुख के आत्यन्तिक उच्छेद को ही मोक्ष कहता है।[2] न्यायदर्शन की एक विशिष्ट मान्यता है- यह मुक्त दशा में सुख की विद्यमानता स्वीकार नहीं करता क्योंकि सुख का राग से अनिवार्य संबंध है और राग बंधन का कारण है। आत्मा गुणी है, सुख दुख आदि गुण है। मुक्त होने पर आत्मा सभी प्रकार के गुणों से मुक्ति पा जाता है।

अद्वैत वेदान्त में अपने यथार्थ स्वरूप का परिज्ञान अथवा स्व-स्वरूप में अवस्थान ही मोक्ष है। मोक्ष में कुछ अपूर्व वस्तु की प्राप्ति नहीं होती है। किन्तु मूलस्वरूप में जीवात्मा का जो अवस्थान है, वही मोक्ष है। पारमार्थिक दृष्टि से आत्मा, ब्रह्म और मोक्ष एक ही है। आत्मा तो नित्य-मुक्त है। बंधन और मोक्ष यह सब अज्ञान की सृष्टि है। अज्ञान अथवा अविद्या से छुटकारा पाना अर्थात् आत्मा और ब्रह्म के तादात्म्य का अनुभव करना ही मोक्ष है। उस अखण्ड चिद्वस्तु को छोड़कर अन्य किसी की सत्ता नहीं है।

लेकिन स्वामी दयानन्द के अनुसार यदि आत्मा ईश्वर (ब्रह्म) है, तो इसे अज्ञानता के आवरण का विषय नहीं होना चाहिए, उसे किसी चीज की इच्छा नहीं करना चाहिए और न ही इसके बंध और मोक्ष का का प्रश्न ही उठना चाहिए। लेकिन ये सारी बातें प्रत्येक चेतन प्राणियों में पाते हैं। अतः दयानन्द के अनुसार "जीव का स्वरूप अल्प होने से आवरण में आता है। शरीर के साथ प्रगट होकर जन्म लेता है, पापरूप कर्मों के फल भोगरूप बंधन में फंसता है उसके छुड़ाने का साधन करता, दुख से छुटने की इच्छा करता और दुखो से

---

1. सांख्य सूत्र, 1-1
2. "दुख-जन्म-प्रवृत्ति दोष मिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायाद्पवर्गः।" गौतम सूत्र 1/1/2

छूटकर परमानन्द परमेश्वर को प्राप्त होकर मुक्ति को भी भोगता है।"[1]

स्वामी दयानन्द के अनुसार दुखों का कारण जीव की अविद्या है। जीवात्मा अविद्या के वशीभूत होकर जन्म मरण के बंधन में आता है तथा दुखों को प्राप्त होता है। अविद्या से छुटने का दयानन्द जी एक ही उपाय बताते हैं और **वह है** विद्या की प्राप्ति करना। विद्या का अर्थ है जिससे पदार्थों के स्वरूप का यथावत् ज्ञान प्राप्त होता है वह विद्या है। यथार्थ ज्ञान होने पर जीवात्मा के मोह व संसार से रागादि का नाश हो जाता है। इससे उसके कर्मों का क्षय हो जाता है। **कर्मों** के क्षय से जीव मुक्ति को प्राप्त हो जाता है।

मुक्ति एक जन्म में होती है या अनेक जन्मों में? दयानन्द कहते हैं कि अनेक जन्मों में होती है क्योंकि "जब इस जीव के हृदय की अविद्या अज्ञानरूपी गांठ कट जाती है, सब संशय छिन्न होते और दुष्ट कर्म क्षय को प्राप्त होते हैं तभी उस परमात्मा जो कि अपने आत्मा के भीतर और बाहर व्याप्त हो रहा है उसमें निवास करता है।[2]

कुछ विद्वान (नवीन वेदान्ती) मुक्ति में जीवात्मा का ब्रह्म में लय होना मानते हैं। उनके अनुसार अविद्या के नाश से जीव मुक्ति में अपने यथार्थ स्वरूप ब्रह्म में लीन हो जाता है। दयानन्द का इसमें तर्क है कि यदि मुक्ति में जीव का ब्रह्म में लय होता है तो मुक्ति का सुख कौन भोगेगा? और मुक्ति के जितने साधन हैं वे सब निष्फल हो जायेंगे। उसे मुक्ति तो नहीं किन्तु जीव का

---

1. स्वामी दयानन्द, सत्यार्थ प्रकाश, नवमसमुल्लास, पृष्ठ 159
2. स्वामी दयानन्द, सत्यार्थ प्रकाश, नवमसमुल्लास, पृष्ठ 171

प्रलय जानना चाहिए।[1] अतः दयानन्द के अनुसार मुक्ति में जीव विद्यमान रहता है।

कुछ दार्शनिक मुक्ति में जीवात्मा का स्वर्ग में निवास बताते हैं। लेकिन स्वामीदयानन्द की मुक्ति जीव का स्वर्ग में निवास नहीं। मुक्ति जीव की यह है कि "दुखों से छूटकर आनन्द स्वरूप, सर्वव्यापक, अनन्त परमेश्वर में जीवों का आनन्द में रहना।"[2] मध्य इत्यादि दार्शनिक मुक्ति के चार भेद बतलाते है- सायुज्य, सारूप्य, समीप्य और सालोक्य लेकिन ये सब भेद कल्पित हैं। वेदादि शास्त्रों में मुक्ति के ये भेद नहीं प्रत्युत उनसे एक प्रकार की ही मुक्ति बतलाई है। स्वामी दयानन्द भी मुक्ति के इन भेदों को नहीं मानते। उनके अनुसार प्रत्येक जीव समान है तथा हर जीव मुक्ति पाने का अधिकारी है।

महर्षि दयानन्द मुक्ति में जीवात्मा के साथ किसी भी भौतिक संग को नहीं मानते। उनके अनुसार "मुक्त जीव का स्थूल शरीर नहीं रहता। उसके सत्य संकल्पादि स्वाभाविक गुण सामर्थ्य सब रहते हैं, भौतिक संग नहीं रहता।"[3] दयानन्द मुक्ति में जीवात्मा के स्थूल शरीर के साथ साथ सूक्ष्म भौतिक शरीर का अभाव भी मानते हैं। लेकिन प्रश्न उठता है कि शरीर के अभाव में जीव मुक्ति में आनन्द कैसे भोग सकेगा? दयानन्द का उत्तर है कि मोक्ष में भौतिक शरीर

---

1. सत्यार्थ प्रकाश, नवमसमुल्लास, पृष्ठ 17।
2. वही, पृष्ठ 162
3. वही, पृष्ठ 161

व इन्द्रियों के गोलक जीवात्मा के साथ नहीं रहते किन्तु अपने स्वाभाविक शुद्ध गुण रहते हैं। इन्हीं के द्वारा जीव मुक्ति में आनन्द भोग लेता है। इस प्रकार दयानन्द मोक्ष में जीव के साथ भौतिक शरीर का अभाव मानते हैं। लेकिन व्यास जी के पिता बादरि आचार्य मुक्ति में जीव का और उसके साथ मन का भाव मानते हैं और इन दोनों से भिन्न इन्द्रियादि पदार्थों का अभाव मानते हैं। जैमिनि आचार्य मन के साथ-साथ सूक्ष्म शरीर, इन्द्रियां प्राण आदि को भी विद्यमान मानते हैं। परन्तु व्यास मुनि मुक्ति में भाव और अभाव इन दोनों को मानते हैं अर्थात् शुद्ध सामर्थ्ययुक्त जीव मुक्ति में रहता है और अपवित्रता, पापाचरण, दुख अज्ञानादि का अभाव हो जाता है। स्वामी दयानन्द का भी यही मत है। उनके अनुसार जीवात्मा अपनी संकल्प शक्ति से ब्रह्म में स्वच्छन्द विचरता तथा आनन्द का भोग करता है।

दयानन्द के अनुसार मुक्त पुरुष परमात्मा में रहता है कहीं अन्यत्र नहीं रहता। जब जीव की अविद्यादि बन्धन की गाँठ छिन्न भिन्न हो जाती है तभी वह मुक्ति को प्राप्त होता है। मुक्ति अवस्था में जीव का ब्रह्म में लय नहीं होता। जीव को ब्रह्म से पृथक व नित्य मानने पर ही मुक्ति अवस्था की सार्थकता है।

7· मुक्ति से पुनरावृत्ति

दयानन्द मुक्ति के विषय में अपना एक नवीन मत प्रतिपादित करते हैं जो अत्यन्त गंभीर विचारमूलक है। उनके अनुसार मुक्ति से जीवात्मा एक निश्चित अवधि तक परमात्मा में मुक्ति के आनन्द को भोग कर पुनः जन्म मरण के चक्र में

आ जाता है अर्थात दयानन्द मुक्ति से पुनरावृति का सिद्धांत मानते हैं। इनके अनुसार संसारी जीव में मुक्ति की इच्छा पाई जाती है। वह चाहता है कि मुक्ति का आनन्द प्राप्त करूँ। यह इच्छा इस आधार पर है कि उसने किसी समय मुक्ति का सुख भोगा है। अतः उसकी स्मृति उसे होती है और वह मुक्ति की इच्छा करता है। यदि मुक्त जीव की पुनरावृति नहीं होती है तो यह इच्छा उसे किस प्रकार हो रही है। इससे यह सिद्ध है कि जीव कभी मुक्ति का सुख भोग चुका है जिसकी स्मृति उसे इस जन्म में हो रही है और उसकी इच्छा का कारण बन रही है। इस प्रकार दयानन्द के अनुसार जीवों में मुक्ति की इच्छा पाये जाने और मुक्ति किसी जीव का स्वाभाविक गुण न होने से यह सिद्ध है कि मुक्ति से पुनरावृति होती है।

न्याय व सांख्य दर्शनों में सब प्रकार के दुखों की अत्यन्त निवृति को मोक्ष का स्वरूप बताया है। इनके अनुसार मुक्तावस्था वह है जहाँ पर दुखों का अत्यन्त अभाव हो जाए।[1] कुछ विद्वान अत्यन्त पद का अर्थ पूर्ण अभाव करते हैं कि दुख की अत्यन्त निवृति हो जाने पर जीवात्मा फिर कभी संसार बंधन में नहीं आता। परन्तु दयानन्द के अनुसार यह आवश्यक नहीं कि अत्यन्त शब्द अत्यन्ताभाव ही का नाम हो।[2] "अत्यन्त" पद का अर्थ अत्यधिक समझना चाहिए।

---

1. (1) "तदत्यन्त विमोक्षोऽपवर्गः।" न्याय, 1-1-22

   (2) "अथ त्रिविध दुखात्यन्तनिवृतिरत्यन्त पुरुषार्थः।" सांख्यसूत्र, 1-1

2. स्वामी दयानन्द, सत्यार्थ प्रकाश, नवमसमुल्लास, पृष्ठ 164

"अत्यधिक" अर्थ स्वीकार करने पर मुक्ति को अनन्त काल तक रहने वाली नहीं माना जा सकता, जो उचित है।

सांख्य दर्शन भी मुक्ति को अनन्त काल तक रहने वाली नहीं मानता। सांख्य दर्शन में मुक्ति से पुनरावृति का निषेध नहीं है बल्कि यह बताया गया है कि जीव जब तक मुक्ति में रहता है उस अवधि के बिना पूरा हुये वह बंधन में नहीं आता। सांख्य सूत्रों में कहा गया है कि मुक्ति नित्य नहीं है। आज तक कोई पुरुष ऐसा मुक्त नहीं हुआ कि उसकी पुनरावृति न हो अत: भविष्य में भी ऐसा कोई मुक्त न होगा कि उसकी पुनरावृति न हो। अत: संसार का जिस प्रकार चलना हो रहा है आगे भी रहेगा। इसका कभी उच्छेद नहीं होगा।[1]

उपनिषदें भी स्वामी दयानन्द के मत का समर्थन करती हैं। मुण्डक उपनिषद के अनुसार-"मुक्त जीव ब्रह्म लोक में मुक्ति के आनन्द को भोग कर महाकल्प के पश्चात् पुन: संसार में आते हैं।"[2] दयानन्द ने मुण्डक उपनिषद के इस संदर्भ के अनुसार उतने मोक्षकाल को "परान्तकाल" कहा है। एक परान्तकाल 31 नील 10 खरब 40 अरब वर्ष का माना गया है। जो एक लम्बा समय है इस लिए मुक्ति से पुनरावृति जन्म मरण के सदृश नहीं है।

---

1. "अनादावधयावदभावाद् भविष्यदप्येवम् ।
   इदानीमेव सर्वत्र नात्यन्तोच्छेद: ।।" सांख्य 1/158-159

2. "ते ब्रह्मलोकेषु परान्तकाले परामृता: परिमुच्यन्ति सर्वे ।"
   मु0उ0, 3-2-6

परन्तु उपनिषदों में कुछ श्रुतियां ऐसी भी है जिसमें मुक्ति से पुनरावृति का निषेध है। छान्दोग्य उपनिषद के अनुसार "मुक्त पुरुष आयु पर्यन्त ब्रह्मलोक में रहता है तथा वापस नहीं आता।"[1] इस वाक्य से मुक्ति से पुनरावृति का खण्डन या विरोध नहीं होता। इससे अमुक्त अवस्था में होने वाले बार-बार जन्म मरण का मुक्तों के लिए निषेध बताया गया है कि ऐसे जन्म मरण मुक्तों को नहीं होते हैं। वह परान्त काल के बाद मुक्ति से लौटाता है। अत: उसके इस पुनरावर्तन का निषेध नहीं है। इस प्रकार उपनिषद्, दर्शन आदि स्वामी जी की बातों की पुष्टि करते हैं।

वृहदारण्यक उपनिषद् के "ते तेष ब्रह्मलोकेषु परा: परावतो बसन्ति तेषा न पुनरावृति" (6-2-15) इस संदर्भ के भाष्य में आचार्य शंकर ने लिखा है- "मुक्त आत्मा अनेक संवत्सरपर्यन्त वहाँ निवास करते हैं अर्थात् ब्रह्मा के अनेक कल्पों तक बसते हैं। उनका आगमन इस संसार में नहीं होता जिसके रहते उन्होंने मुक्ति प्राप्त की है।"[2] इसलिए इस (वर्तमान) कल्प के अनन्तर आगे कल्पों में मुक्ति से लौटना होता है।

इससे स्पष्ट होता है कि शंकर आदि ने भी आत्मा के मुक्तिकाल को सीमित माना है, वह चाहे कितना भी अधिक हो।

---

1. "न च पुनरावर्तति न च पुनरावर्तते" छान्दोग्य उपनिषद, 8-15
2. "परा: परावत: प्रकृष्टा: समा: संवत्सराननेकान् वसन्ति । ब्रह्मणोऽनेकान् कल्पान् वसन्तीत्यर्थ:। तेषा ब्रह्मलोकं गतानां नास्ति पुनरावृति:, अस्मिन् संसारे न पुनरागमनम्" वृ०उ०, 6-2-15 पर शांकरभाष्य

दयानन्द एक वेद मंत्र के भाष्य में स्पष्ट कहते हैं कि "हम इस स्वप्रकाश स्वरूप अनादि सदामुक्त परमात्मा का नाम पवित्र जाने जो हमको मुक्ति में आनन्द भुगाकर पृथिवी में पुन: माता-पिता के संबंध में जन्म देकर माता पिता का दर्शन करता है।"[1] इस प्रकार दयानन्द मुक्ति को नित्य नहीं मानते। उनके अनुसार जीव की मुक्ति से पुनरावृति होती है क्योंकि अल्पज्ञ अल्पशक्ति जीवात्मा में वह सामर्थ्य कभी नहीं आता, जिससे अनन्त काल तक ब्रह्मानन्द का भोग करता रहे। मुक्ति देने के जो कारण है वे भी सीमित हैं। फिर जीव के अल्प सामर्थ्य व प्रयत्न का अनन्त फल कैसे हो सकता है अत: मुक्ति से वापस आना पड़ता है।

8· आत्मा पर शंकर के विचार

अद्वैतवाद के पोषक श्री शंकराचार्य जी आत्मा के अस्तित्व के लिए एक कसोटी देते है। वह कहते हैं कि यदि किसी जीवधारी में ये तीन गुण "करें, न करे अथवा उल्टा न करें" (कर्तुं, अकर्तुं एवं अन्यथा कर्तुं) मिले तो समझना चाहिए कि उसमें आत्मा है। उनके अनुसार "सब किसी को आत्मा के अस्तित्व में भरपूर विश्वास है। ऐसा कोई भी व्यक्ति नहीं है जो यह विश्वास करे कि "मैं नहीं हूँ" यदि आत्मा न होती तो सब किसी को अपने न रहने में विश्वास होता, परन्तु ऐसा न होने से आत्मा की स्वत: सिद्धि माननी पड़ती है।"[2]

1· स्वामी दयानन्द, सत्यार्थ प्रकाश, नवम समुल्लास, पृष्ठ 163

2· "सर्वो हि आत्मास्तित्वं प्रत्येति, न नाहमस्मीति। यदि हि नात्मत्व-प्रसिद्धि: स्यात् सर्वो लोको नाहमस्मीति प्रतीयात्।"

(ब्रह्मसूत्र 1·1·1 पर शंकरभाष्य)

शंकराचार्य जीवात्मा की स्वतन्त्र सत्ता नहीं मानते। उनका मत है कि "जीवोब्रह्मैवनापर:" अर्थात् जीव ब्रह्म से पृथक नहीं है किन्तु ब्रह्म का ही अंश है जिस प्रकार अग्नि से चिनगारियां निकलती है उसी प्रकार ब्रह्म से जीव निकला है। शंकर जीवात्मा को सनातन तो मानते हैं परन्तु परब्रह्म के ही रूप में।

परन्तु यदि जीव ब्रह्मांश है और शुद्ध, बुद्ध, मुक्त स्वभाव वाला है तो संसार में जो जीवों को सुखी देखते हैं, दुखी देखते हैं, अनेक आपत्तियों में ग्रस्त पाते हैं वह क्यों? इसका उत्तर शंकराचार्य यह देते हैं कि शुद्ध, बुद्ध, मुक्त होने पर भी जीव अविद्या के कारण देह आदि उपाधि के धर्म से संक्रामित हो जाता है। सुख, दुख, काम क्रोध, रोग, शोक यह सब देह और मन के धर्म हैं, जीव के नहीं किन्तु जीव देह के संयोग के कारण अपने को दुखी, सुखी, रोगी और शोकी समझता है। अनादि माया (अविद्या) के कारण सोया हुआ जीव जब जागता है तब वह जानता है कि वह स्वयं ही जन्महीन, निद्राहीन, स्वप्नहीन अद्वैत ब्रह्म है।[1]

अब प्रश्न उठता है कि माया क्या है? अद्वैत में माया एक अद्भुत शक्ति है जो ब्रह्म पर अविद्यात्मक प्रभाव डालती है। दयानन्द का आक्षेप है कि यदि माया अपना प्रभाव अविद्या के रूप में ब्रह्म पर डालती है तो ब्रह्म जो कि शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, सर्वज्ञ आदि स्वभाव वाला है अपने स्वरूप से च्युत हो जाता है अर्थात् अल्पज्ञ आदि स्वभाव वाला हो जाता है जो ठीक नहीं है। इसके अतिरिक्त अद्वैतवाद में माया को सतासत् से परे अनिर्वचनीय भी कहा गया है। माया को सतासत् से परे अनिर्वचनीय मान लेने पर वह ब्रह्म के समान हो जायेगी

---

1. अनादि मायया यदाजीव: प्रबुध्यते।

क्योंकि शंकर के अनुसार ब्रह्म भी सतासत् से परे अनिर्वचनीय है। शंकर इन प्रश्नों का कोई उत्तर नहीं देते।

इस मत में जीवात्मा ब्रह्म का प्रतिबिम्बमात्र है, जो अविद्या में पड़ता है अथवा अन्त: करणोपाधि से परिच्छिन्न ब्रह्म ही जीव है। इस पर दयानन्द का कहना है कि "प्रतिबिम्ब साकार का साकार में होता है जैसे मुख और दर्पण आकार वाले हैं और पृथक भी हैं, जो पृथक न हो तो भी प्रतिबिम्ब नहीं हो सकता। ब्रह्म निराकार सर्वव्यापक होने से उसका प्रतिबिम्ब नहीं हो सकता।"[1]

इसके अलावा शंकर के मत में जीव के लिए मुक्ति साध्य वस्तु नहीं किन्तु सिद्ध है। जब तक अज्ञान रहता है जीव अपने को मुक्त नहीं समझता, अज्ञान दूर हो जाने पर वह अपने को मुक्त समझने लगता है। इस मत में निर्गुण ब्रह्मात्म विज्ञान के फलस्वरूप निर्गुण ब्रह्मात्मक स्वस्वरूप की अभिव्यक्ति ही मुक्ति है। उस समय अविद्या तथा उसके कार्य रूप प्रपंच का मिथ्यात्व निश्चित हो जाता है। शंकर जगत को भी मिथ्या मानते हैं। उनके अनुसार ब्रह्म ही एकमात्र सत्य है।

दयानन्द शंकर के इन विचारों का समर्थन नहीं करते। उनके लिए तो संसार सत्य है एवं जीव की सत्ता ब्रह्म से पृथक है। "जैसे आकाश सारे मंदिर के भीतर बाहर परिपूर्ण है परन्तु मंदिर आकाश से भिन्न ही बना रहता है। ऐसे ही परमात्मा जीवात्मा में रमा हुआ है परन्तु जीव उससे न्यारे ही रहते हैं।

---

1. स्वामी दयानन्द, सत्यार्थ प्रकाश, नवमसमुल्लास, पृष्ठ 159

2. श्रीमद्दयानन्द प्रकाश, पृष्ठ 486

अध्याय-।।।

प्रकृति

1· प्रकृति का स्वरूप

ईश्वर, जीव, प्रकृति ये तीन तत्त्व अनादि और अजन्मा हैं। ऋग्वेद में ईश्वर, जीव और प्रकृति का आलंकारिक रूप में वर्णन करते हुए एक मंत्र है-

त्रय: केशिन ऋतुथा विचक्षते संवत्सरे वपत एक एषाम् ।
विश्वमेको अभिचष्टे शचीभिर्ध्राजिरेकस्य ददृशे न रूपम् ।।[1]

तीन प्रकाशमय पदार्थ नियमानुसार विविध कार्य कर रहे हैं। इनमें से एक काल में- सृष्टिकाल में अथवा वासयोग्य संसार के लिए बीज डालता है। एक शक्तियों से, कार्य से, बुद्धि से संसार को दोनों ओर से देखता है। एक का वेग तो दीखता है किन्तु रूप नहीं दीखता।

ईश्वर, जीव और प्रकृति जगत के कारण हैं। ऋग्वेद में भोक्ता जीवात्मा अभोक्ता परमात्मा तथा भोग्य फलयुक्त वृक्ष के रूप में प्रकृति का उल्लेख हुआ है -

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते ।
तयोरन्य: पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति ।।[2]

1· ऋग्वेद 1/164/44

2· ऋग्वेद 1/164/20

अर्थात् ब्रह्म और जीव दोनों ॥सुपर्णा॥ चेतनता और पालनादि गुणों से सदृश ॥सयुजा॥ व्याप्य-व्यापक भाव से संयुक्त ॥सखाया॥ परस्पर मित्रतायुक्त सनातन अनादि हैं और ॥समानम्॥ वैसा ही ॥वृक्षम्॥ अनादि मूलरूप कारण और शाखारूप कार्ययुक्त वृक्ष अर्थात् जो स्थूल होकर प्रलय में छिन्न भिन्न हो जाता है, वह तीसरा अनादि पदार्थ इन तीनों के गुण, कर्म, स्वभाव भी अनादि हैं। इन जीव और ब्रह्म में से एक तो जीव है वह इस वृक्षरूप संसार में पाप-पुण्य रूप फलों को ॥स्वाद्वत्ति॥ अच्छे प्रकार से भोगता है और दूसरा परमात्मा कर्मों के फलों को ॥अनश्नन्॥ न भोगता हुआ चारों ओर अर्थात् भीतर बाहर सर्वत्र प्रकाशमान हो रहा है। जीव से ईश्वर ईश्वर से जीव और दोनों से प्रकृति भिन्न स्वरूप तीनों अनादि हैं।

स्वामी दयानन्द ने भी ईश्वर, जीव और प्रकृति तीनों को अनादि माना है, अजन्मा माना है।[1] श्वेताश्वेतरोपनिषद् का मंत्र प्रकृति अनादि वाद की घोषणा करता है-

अजामेकां लोहित शुक्ल कृष्णां वह्वी: प्रजा: सृजमानां सरूपा: ।
अजो हयेको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्य: ।।[2]

---

1. "ईश्वर, जीव और जगत का कारण ये तीन अनादि हैं।" सत्यार्थ प्रकाश, पृष्ठ 140

2. श्वेताश्वेतरोपनिषद् 4/5

इसके भाष्य में स्वामी दयानन्द कहते हैं "प्रकृति जीव व परमात्मा तीनो अज अर्थात् जिनका कभी जन्म नहीं होता।

दयानन्द के अनुसार ब्रह्म जगत का निमित कारण है तथा प्रकृति उपादान कारण है। उपादान कारण के सदृश कार्य में गुण होते हैं इसलिए ब्रह्म जगत का उपादान कारण नहीं हो सकता क्योंकि ब्रह्म अदृश्य और जगत दृश्य है।

जगत का कारण प्रकृति आदि पदार्थ है। प्रकृति का लक्षण बतलाते हुए उन्होंने सांख्य सूत्र द्वारा लिखा है-

"सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः प्रकृतेर्महान् महतोऽहंकारोऽहङ्कारात् पंचतन्मात्राण्युभयमिन्द्रियं पंचतन्मात्रेभ्यः स्थूलभूतानि पुरुष इति पंचविंशतिर्गणः ।[1]

(सत्व) शुद्ध (रजः) मध्य (तमः) जाड्य अर्थात् जड़ता तीन वस्तु मिलकर जो एक संघात है उस का नाम प्रकृति है। उससे महतत्व बुद्धि, उससे अहंकार, उससे पांच तन्मात्रा सूक्ष्म भूत और दश इन्द्रियां तथा ग्यारहवां मन, पांच तन्मात्राओं से पृथिव्यादि पांच भूत ये चौबीस और पच्चीसवां पुरुष अर्थात् जीव और परमेश्वर हैं। इनमें से प्रकृति अविकारिणी और महत्तत्व अहंकार तथा पांच सूक्ष्म भूत प्रकृति का कार्य और इन्द्रियां मन तथा स्थूलभूतों का कारण है। पुरुष न किसी की प्रकृति उपादान कारण और न किसी का कार्य है।

स्वामी दयानन्द की प्रकृति का स्वरूप एकदम सांख्यों की प्रकृति से मिलता है। सांख्य दर्शन में प्रकृति का लक्षण किया है- सत्व, रज, तम इन तीनों

1· सांख्य सूत्र 1/61/

गुणों की जो साम्यावस्था है उसी का नाम प्रधान, मूलप्रकृति और अव्यक्त है।[1] साम्यावस्था होने के कारण ही यह सत्व है, यह रज है, यह तम है इस प्रकार का व्यवहार इसमें नहीं होता और इसमें क्रिया भी नहीं होती। इसलिए ये तीन तत्व नहीं माने जाते। यह त्रिगुणात्मक एक ही तत्व माना जाता है। ये तीनों प्रकृति के स्वरूप ही है, धर्म नहीं। इसलिए सांख्य प्रवचन में लिखा है-

"सत्वादीनामतद्धर्मत्वं तद्रूपत्वात्" अर्थात् सत्वादि तद्रूप होने के कारण प्रकृति के धर्म नहीं है। सांख्यों के प्रधानवत् अपने दर्शन में प्रकृति का स्वरूप मानने पर भी स्वामी दयानन्द प्रकृति वादी नहीं है।

इस प्रकार प्रकृति का अर्थ हुआ "साम्यावस्था प्रकृति" पंचभौतिक जगत की वह अवस्था जिसमें किसी प्रकार का भेद न हो, जब सम अवस्था हो उसे प्रकृति कहा गया है। लेकिन वर्तमान युग में प्रत्येक वस्तु का अपना पृथकत्व है, अपनी अलग सत्ता है, समअवस्था नहीं है, विषम अवस्था है। इस विषम अवस्था का नाम विकृति है, सम अवस्था का नाम प्रकृति है। अर्थात् जब सत्व, रज और तम के परमाणु प्रलयावस्था में साम्यावस्था में रहते हैं वही प्रकृति है, उसे ही मूल उपादान, अव्यक्त प्रधान या माया कहते हैं।

2· प्रकृति की नित्यता और अनित्यता

प्रकृति तत्व जड़ है तथा अनादि अनन्त एवं नित्य माना जाता है। यह समस्त भौतिक विश्व का उपादान कारण होने से कार्यरूप में परिणत होता है

1· "सत्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः;" सांख्य सूत्रं 1/61

तथा कार्य जब निमित्तान्तरों से प्रताड़ित होकर अपने कार्यरूप को छोड़ देता है तब वे तत्व कालान्तर में पुनः अपने मूल रूप अथवा कारणरूप से अवस्थित हो जाते हैं। तात्पर्य है कि इस अवस्था में इनका कार्यरूप परिणाम नहीं रहता। इसी परिस्थिति के अनुसार इसको प्रवाह से नित्य अथवा अनादि अनन्त माना जाता है।

प्रकृति के नित्य होने से कभी उसका नाश नहीं होता है। पुरुष स्वरूपस्थित होने पर केवल प्रकृति के संबंध से स्वतंत्र और उदासीनमात्र हो जाता है, उसके अंश की प्रकृति उससे पृथक होकर मूलप्रकृति में मिल जाती है, परन्तु उससे मूलप्रकृति का नाश नहीं होता।

दयानन्द के अनुसार प्रकृति अजन्मा है। केवल कार्य जगत का तथा उससे निर्मित अन्य पदार्थों का जन्म होता है परन्तु ईश्वर, जीव और प्रकृति का कभी जन्म नहीं होता। आचार्य सायण लिखते हैं- "जो जन्म नहीं लेती ऐसी अजा मूल प्रकृति रूप माया है। उस अनादि का जन्म संभव नहीं है। वह माया एक है, अन्य सम्पूर्ण जगत उसका कार्य है।"[1] अजा शब्द से ही स्पष्ट है कि प्रकृति अनादि है।

प्रकृति की नित्यता का वर्णन करते हुए छान्दोग्य कहता है- "हे

---

1. न जायते इति अजा मूलप्रकृतिरूपा माया। न हयनादेस्तस्या जन्म सम्भवति। सा च माया एका इतरस्यसर्वस्य जगतस्तत्कार्यवात् ।
तै0आ0 सायण भाष्य पृष्ठ 805

श्वेतकेतो ! अन्नरूप पृथ्वी कार्य से जल रूप मूल कारण को तू जान। कार्यरूप जल से तेजोरूप मूल और तेजोरूप कार्य से सद्रूप कारण जो नित्य प्रकृति है उसको जान। यही सत्य स्वरूप प्रकृति सब जगत का मूल घर और स्थिति का स्थान है।"[1] इसी प्रकार तैतरीय उपनिषद में कहा है- " यह प्रकृति समस्त जड़ जगत का आदि कारण है। सृष्टि से पूर्व यह सब जगत असत् के समान प्रकृति में लीन होकर वर्तमान था।"[2] इस प्रकार उपनिषदों में कई मंत्र ऐसे हैं जिनमें प्रकृति की नित्यता का वर्णन है।

प्रकृति को नित्य बतलाते हुए महाभारत में कहा है- यह व्यक्त [कार्य जगत] मृत्यु से ग्रसित है और अव्यक्त प्रकृति अमृत नित्य है।[3] जब यह प्रकृति का त्रिरूप कार्य जगत अपने मूल कारण प्रकृति में लीन हो जाता है तब एक प्रकृति ही मूल उत्पादन रूप में स्थित रहती है। इस विषय को स्पष्ट करते हुए लिखा है- जब सत्व, रज और तम गुणों वाला जगत अपने तीनों गुणों में लीन हो जाता है उस समय एक प्रकृति रह जाती है।[4] इस प्रकार प्रकृति की नित्य सत्ता का वर्णन महाभारत में किया है।

प्रकृति को जगत का नित्य उपादान कारण मानते हुए कूर्म पुराण में

---

1. "[एवमेव खलु] सोम्यान्ने... सत्प्रतिष्ठा।" छा०उ० 6-8-4
2. असद्वा इदमग्र आसीत्। तै०उ० 2-7-1
3. व्य मृत्युमुखं विद्यादव्य ममृतं पदम्। मह०भा० शा० पर्व 217/2
4. गुणा गुणेषु लीयन्ते तदैका प्रकृतिर्भवेत। मह०भा०शा० पर्व 306/16

कहा है- "जो अव्यक्त नित्य कारण है, जिसे सदसदात्मक कहते हैं, तत्वचिन्तन उसे ही प्रधान और प्रकृति के नाम से कहते हैं।"[1] यहाँ प्रकृति को अनादि और नित्य माना है तथा उसे ही उपादान कारण स्वीकार किया है।

इस प्रकार अव्यक्त, अनादि कारण प्रकृति है जो कि नित्य है। प्रकृति प्रलयावस्था में ब्रह्म के गर्भ में अव्यक्तावस्था में वर्तमान रहती है इसका सर्वथा अभाव नहीं होता अत: यह नित्य है।

3· मूल प्रकृति तथा प्रकृति के अन्य रूप

ब्रह्मा से लेकर तृणपर्यन्त समस्त चराचर शक्ति के ही आधीन है। वह शक्ति मूल प्रकृति ही है। कहा है- "प्रधानं प्रकृति: शक्ति:" वह प्रधान पराशक्ति प्रकृति जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहंकार- इन आठ प्रकार की प्रकृतियों से अन्य है, जो कि इस समस्त जगत को धारण करती है।

प्रथम महामाया पराशक्ति मूल प्रकृति ही प्रकटित हुई तत्पश्चात् मायोपाधिक यह सब जगत। माया, प्रकृति, शक्ति-सब पर्यायवाची शब्द हैं। इसके अनेकधा नाम हैं, रूप हैं। जिस प्रकार एक स्वर्णकार बिना स्वर्ण के कंटक कुण्डलादि आभूषण बनाने में असमर्थ है उसी प्रकार बिना प्रकृति शक्ति के परमेश्वर का ऐश्वर्य सृष्टि के कार्य में निरर्थक है।

वास्तव में प्रकृति सबसे बड़ी महाविद्या रूप, सबसे बड़ी मायारूप,

---

1· अव्यक्तं कारणं यन्नित्यं सदसदात्मकम् ।
प्रधानं प्रकृतिश्चेति यमाहुस्तत्त्वचिन्तका: ।। कूर्म पु0 50 36

सर्वोत्तम मेधारूप, सबसे अधिक शक्तिशालिनी, सत्यरूपिणी, शिवा, सुंदरी एवं दिव्यरूपा है। वह महाविद्यारूप से जीव को ब्रह्मज्ञान प्राप्त कराकर मोक्ष प्रदान करती है और वही अविद्या रूप से उसको सांसारिक बंधनों में फंसाती है। अनन्त ब्रह्माण्डों की आधारभूता सनातनी वह अव्याकृता, परमा एवं मूल प्रकृति है।

सांख्य तत्व विवेचन में प्रकृति के असंख्य नाम गिनाये हैं- प्रकृति, माया, प्रधान, ब्रह्म, कारण, अव्याकृत, तमस्, पुरुष क्षेत्र और अक्षर[1] तथा भावागणेश ने प्रकृति के ये पर्याय दिये हैं- अव्यक्त, प्रधान, ब्रह्म, अक्षर, क्षेत्र, तम, माया, ब्राह्मी, विद्या, अविद्या, प्रकृति, शक्ति और अजा।[2]

वेद में प्रकृति का विभिन्न नामों से उल्लेख है। इसी प्रकार ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषदों में भी प्रकृति का विभिन्न रूपों में वर्णन हुआ है- माया के रूप में, अदिति के रूप में, अविद्या के रूप में आदि। अस्तु प्रकृति के विभिन्न रूप हैं।-

माया- वेद में माया को प्रकृति का ही रूप कहा है। एक ऋचा में कहा है-

"पंतगमक्तमसुरस्यमायया हृदा पश्यन्ति मनसा विपश्चित: ।ऋ0 10/177/1

1· अव्यक्तं प्रकृतिर्माया प्रधानं ब्रह्म कारणम् ।

अव्याकृततम: पुरुषं क्षेत्रमक्षरनामकम् ।। सांख्यसंग्रहे पृ0 5

2· तथा प्रकृति पर्याया अव्यक्तं प्रधानं ब्रह्म अक्षरं क्षेत्रं

तम: माया ब्राह्मी विद्या अविद्या प्रकृति शक्ति अजा इत्यादय:।

सांख्यसंग्रहे पृष्ठ 52

इस ऋचा पर भाष्य करते हुए आचार्य सायण लिखते हैं- "सब उपाधियों से रहित परब्रह्म से संबंध रखने वाली त्रिगुणात्मिका माया जिस से व्यक्त होती उस व्यापक परमेश्वर को विद्वान लोग एकाग्र मन से देखते हैं।"[1]

वस्तुत: मूलग्रन्थों में माया और प्रकृति एकार्थ में प्रयुक्त हुए है। श्वेताश्वतर उपनिषद में प्रकृति और माया के स्वरूपैकत्व को स्पष्ट किया गया है। अद्वैतवादियों की तरह यहाँ माया को अनिर्वचनीय नहीं कहा, किन्तु कहा है माया को प्रकृति जानो और इस प्रकृति का प्रेरक महेश्वर को जानो।[2] इस प्रकार श्वेताश्वतर उपनिषद में माया को ही प्रकृति कहा गया है। गीता में भी माया को प्रकृति का ही रूप बतलाया गया है।

अव्यक्त- कठोपनिषद में अव्यक्त शब्द प्रकृति के रूप में प्रयुक्त है। यहाँ अव्यक्त शब्द का अर्थ आचार्य शंकर ने "सम्पूर्ण जगत का बीजभूत" किया है[3] तथा कुमुद रंजन राय ने प्रकृति या माया किया है।[4]

महाभारत में प्रकृति को अव्यक्त (असत्) बतलाते हुए लिखा है- जिस प्रकार पीपल के छोटे से बीज में महान वृक्ष छिपा रहता है उसी प्रकार

---

1. असुरस्य असुरनकुलस्य...... परमात्मा तं पश्यन्ति जानन्ति । ऋग्वेद सायण भाष्य, पृष्ठ 872
2. माया तु प्रकृति विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्। श्वेता० उपनिषद 4/10
3. (अव्यक्तं) सर्वस्य जगतो बीजभूतम । कठो०शांकर भाष्य, पृष्ठ 128
4. अव्यक्तं- अव्याकृता (प्रकृति वा माया) वही, पृष्ठ 184

अव्यक्त (प्रकृति) से व्यक्त (कार्यजगत) उत्पन्न होता है।[1] गीता में भी अव्यक्त शब्द प्रकृति के लिए प्रयुक्त हुआ है। उस अव्यक्त रूप प्रकृति से यह सृष्टि उत्पन्न होती है तथा प्रलयकाल में उसी में लीन हो जाती है। इस बात को स्पष्ट करते हुए गीता में लिखा है- "ब्रह्मा के दिन के आरम्भ में अव्यक्त प्रकृति से सब व्यक्त पदार्थ उत्पन्न होते हैं और फिर रात्रि के प्रारम्भ में उसी अव्यक्त प्रकृति में लीन हो जाते हैं।[2] श्री यामुनाचार्य ने इस श्लोक में अव्यक्त शब्द का अर्थ प्रकृति ही किया है।[3]

इसी प्रकार वायु पुराण और ब्रह्म पुराण में भी प्रकृति को अव्यक्त रूप में कहा है।

तमस- ब्राह्मण ग्रंथों में तमस् रूप में प्रकृति का वर्णन हुआ है। देवताध्याय ब्राह्मण में एक स्थान पर कहा है- " ऋषियों के विषय को जानने वाला शरीर के बन्धन से छूट जाता है तथा तमस् (प्रकृति) के बंधन से परे होकर स्वर्गलोक में जाता है।"[4] ताण्डय ब्राह्मण में भी प्रकृति के रूप में तमस् शब्द प्रयुक्त हुआ है।

आचार्य सायण भी तमस् का अर्थ माया रूपी भावरूप अज्ञान तत्व करते

---

1. यथाऽश्वत्थ कणीकायामन्तर्भूतो महाद्रुमः।
   निष्पन्नो दृश्यते व्यक्तमव्यक्तात्सम्भवस्तथा ।। महा०शांति पर्व 211/2
2. अव्यक्ताद्व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे । रात्र्यागमे प्रलीयन्ते
   तत्रैवाव्यक्त संज्ञके ।।गीता 8/18
3. अव्यक्तात् प्रकृतेः। भाष्य श्री रामानुजाचार्य, गीता, पृ0 78
4. ऋषीणां विषयज्ञा यः शरीराद्विमुच्यते। अतीत्य तमस पारं स्वर्गे लोके
   महीयते ।। दे0 ब्रा0 4/24

हैं। तमस् शब्द प्रकृति के अर्थ में अन्य ग्रन्थों में भी प्रयुक्त है।[1]

अदिति- अदिति शब्द भी प्रकृति के रूप में वेद में प्रयुक्त है। अदिति शब्द का अर्थ है अखण्डित अर्थात अविनाशी। वस्तुत: प्रकृति के परमाणु भी अखण्डित ही हैं। ऋग्वेद के मंत्र में अदिति को माता कहा है। यास्काचार्य लिखते हैं- "अदितिरदीनादेवमाता" निरूक्त 4/22

ऋग्वेद के मंत्र की व्याख्या करते हुए जैमिनीयार्षेय ब्राह्मण में लिखा है- "अदिति" निश्चय से माता है, यह पिता है यह पुत्र है।[2] यहां अदिति शब्द प्रकृति का बोधक है। महर्षि दयानन्द ऋग्वेद के मंत्र के भाष्य में लिखते हैं-

"ईश्वर, जीव और प्रकृति अर्थात् जगत का कारण इनके अविनाशी होने से उनकी भी अदिति संज्ञा है।[3]

सत्यव्रत सामश्रमी ने अदिति का अर्थ अखण्डित शक्ति (प्रकृति) किया है।[4] उदयवीर शास्त्री के मत में भी ऋग्वेद की ऋचाओं में अदिति शब्द प्रकृति के अर्थ में प्रयुक्त है। अत: कहा जा सकता है कि माता, पिता, पुत्र सब इसी प्रकृति के रूप हैं क्योंकि त्रिगुणात्मक प्रकृतिज शरीर के ही ये संबंध है।

---

1. तम आसीत्। ऋ0 10/129/3/ आसीदिदं तमोभूतम्। मनु0 1/5
2. अदितिर्माता स पिता स पुत्र:। एषा वै माता एषा पिता एषा पुत्र। जै0आ0 ब्रा0 1/13/2/4,5
3. महर्षि दयानन्द भाष्य ऋग्वेद पृष्ठ 445
4. अदिति: अखण्डनीया शक्ति (प्रकृति) निरुक्त, 488

ब्रह्म- ब्रह्म शब्द भी प्रकृति के रूप में दार्शनिक ग्रंथों में प्रयुक्त है। सांख्य तत्त्व विवेचन में विभानन्द ने प्रकृति के रूप में ब्रह्म का प्रयोग किया है।[1] तत्त्वयाथार्थ्य दीपनम् में भी ब्रह्म शब्द प्रकृति के रूप में प्रयुक्त है। उपनिषद में भी ब्रह्म शब्द प्रकृत्यर्थ में प्रयुक्त है। सामविधान ब्राह्मण में लिखा है कि प्रलयावस्था में सृष्टि से पूर्व "ब्रह्म" था। "ब्रह्म ह वा इदमग्र आसीत् ।"

यहाँ ब्रह्म शब्द से प्रकृति और परमेश्वर दोनों का बोध है। इस प्रकार ब्राह्मण ग्रंथों में अथवा अन्य स्थानों पर जहाँ पर भी ऐसा वर्णन है कि प्रलयावस्था में ब्रह्म, सत, आत्मा या आप: था। उसका तात्पर्य यही है कि उस समय ब्रह्म के साथ-साथ मूल उपादान कारण भी था चाहे उसे माया कहें या प्रकृति कहें।

इस प्रकृति को परमेश्वर की शक्ति महामाया बतलाते हुए नारदीय पुराण में कहा है- उस परमेश्वर की महाशक्ति के रूप में माया विद्यमान है जो कार्य जगत को अपने में लीन करके धारण करती है। वही विश्व की उत्पत्ति का कारण है। विद्वान लोग उसे प्रकृति कहते हैं।[2] वास्तव में समस्त जगत की आधारभूता प्रकृति शक्ति ही है। माया, अदिति, अव्यक्त, अविद्या सभी उस प्रकृति के ही रूप हैं।

4· प्रकृति के गुण धर्म

स्वामी दयानन्द के दर्शन में सत्त्व, रज और तम प्रकृति के तीनों गुण

1· अव्यक्तं प्रकृतिर्माया प्रधानं ब्रह्म कारणम् ।
अव्याकृतं तम: पुष्पं क्षेत्राक्षर नामकम् ।। सांख्यसंग्रहे सांख्यतत्त्वविवेचन पृ05

2· यस्य शक्ति र्महामाया जगद्विश्रम्भधारिणी ।
विश्वोत्पते र्निदानत्वात्प्रकृति: प्रोच्यते बुधै: ।। नारदीय पुराण 2/27

सांख्यों के समान स्वयं प्रकृति के रूप हैं। सांख्यों के अनुसार भी सत्व, रज व तम स्वयं प्रकृति हैं।[1] साम्यावस्था में प्रकृति के तीनों गुणों में साम्यता रहती है। सत्व,रज व तम का गठन इस प्रकार होता है कि एक गुण दूसरे की क्रिया को रोके रहता है।

सत्व, रज और तम ये तीनों वस्तुत: द्रव्यरूप है, गुणरूप नहीं। लेकिन यहाँ शंका यह होती है कि यदि सत्व, रज और तम ये द्रव्यरूप हैं, तो इनका गुण शब्द से व्यवहार क्यों किया जाता है? इसका समाधान यह है कि ये तीनों पुरुष के भोग साधन मात्र हैं इसलिये गुणीभूत होने के कारण गुण शब्द से उनका व्यवहार किया जाता है। वस्तुत: ये गुण नहीं है। क्योंकि गुण से भिन्न ही गुणी का स्वरूप होता है। जैसे गन्ध से भिन्न पृथ्वी का गुण गन्ध होता है। परन्तु यहाँ तो सत्व, रज, तम इनसे भिन्न प्रकृति का कोई स्वरूप है ही नहीं। ये तीनों प्रकृति के स्वरूप ही हैं, धर्म नहीं।

प्रकृति के त्रिगुणमय लक्षण के विषय में देवीभागवत में सुन्दर वर्णन मिलता है।[2] प्रकृति इस शब्द में प्र शब्द प्रकृष्ट (उत्तम) वाचक है और कृति शब्द सृष्टिवाचक है। अर्थात् जो देवी सृष्टिकार्य में निपुण है उन्हीं को प्रकृति कहते हैं। प्रकृति शब्द के तीन अक्षर प्र, कृ, ति, क्रमश: सत्व, रज और तम इन तीन गुणों के द्योतक हैं। यह त्रिगुणात्मिका है।

1· सत्वादीनामतद्धर्मत्वम् तद्रूपत्वात्। सांख्यसूत्र, 6-39

2· प्रकृष्ट वाचक: प्रश्च कृतिश्च सृष्टिवाचक: ।
सृष्टौ प्रकृष्टा या देवी प्रकृति: सा प्रकीर्तिता।।
गुणे सत्वे प्रकृष्टे च प्रकाशो वर्तते श्रुत: ।
मध्यमे रजसि कृश्च तिशब्दस्तमसि स्मृत:।।
त्रिगुणात्मकस्वरूपा या सा च शक्तिसमन्विता।
प्रधाना सृष्टिकरणे प्रकृतिस्तेन कथ्यते।। दे0भा0, नवमस्कन्ध, प्रथम अ0

त्रिगुणात्मकता प्रकृति के सेवन से जीवात्मा तीनों गुणों से प्रभावित हो जाता है। गीता में भगवान कृष्ण कहते हैं कि प्रकृति से उत्पन्न तीन गुण सत्व, रज, तम अव्ययदेही (जीवात्मा) को उसके देह में बांध लेते हैं। इनमें सत्व मलरहित, प्रकाशक और स्वास्थ्य देनेवाला है। कोई रुकावट देने वाला नहीं है। इसका बन्धन ज्ञान और सुख की इच्छाओं से होता है। दूसरा "रजोगुण" तृष्णा से उत्पन्न होकर रागों द्वारा जीव को कर्म बन्धन में इस शरीर से बांधता है। तीसरा "तमोगुण" अज्ञान से उत्पन्न होता है- सब जीवों को मोह उत्पन्न करता है और उन्हें प्रमाद, आलस्य और निद्रा में घेरे रहता है। सत् से सुख उत्पन्न होते हैं, रजोगुण से कर्म और दुख व तमोगुण ज्ञान को ढाँककर प्रमाद उत्पन्न करता है। जब किसी एक गुण का प्राबल्य होता है तब अन्य दो उससे दब जाते हैं। ज्ञान वृद्धि के समय सतोगुण प्रबल होता है उस अवस्था में शरीर छूटने से प्राणी ज्ञानियों के लोक को जाता है। लोभ की प्रबलता पर रजोगुण प्रधान होता है उसमें शरीर छूटने से सकाम कर्मियों में जन्म लेता है और तमोगुण की प्रधानावस्था में मरने से प्राणी मूढ़ों में जन्म लेता है। सतोगुण से ऊर्ध्वगति व सुख उसका फल है, रजोगुण से मध्यगति और दुख फल है तथा तमोगुण से अधोगति व अज्ञान फल है। इसलिए गुणों से ऊपर के तत्व को जब जीव देखता है तो भगवद् भाव को प्राप्त हो जाता है।

इस प्रकार गीता में प्रकृति को गुणमयी अर्थात् त्रिगुणात्मक स्वीकार किया गया है। प्रकृति को त्रिगुणात्मक स्वीकार करते हुए गीता में कहा है- "प्रकृति के गुणों के द्वारा कर्म सब प्रकार किये हुए होते हैं, परन्तु अहंकार से विमोहित बना हुआ मनुष्य "मैं कर्ता हूं" ऐसा मान लेता है।[1]

प्रकृति के विषय में योग दर्शन में कहा गया है- प्रकाश अर्थात् सत्व गुण, क्रिया अर्थात रजोगुण और स्थिति अर्थात् तमोगुण इन तीनों गुणों से युक्त, स्थूल सूक्ष्मभूत और ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रियों से युक्त तथा पुरुष के लिए भोग और मोक्ष देने वाली प्रकृति है।[1] योगदर्शन के अनुसार प्रकृति के गुणों की चार अवस्थाएं है। यथा-विशेष, अविशेष, लिंग और अलिंग। पंचभूत पंच कर्मेन्द्रिय, पंच ज्ञानेन्द्रिय और मन तक विशेषावस्था है। पंचतन्मात्रा और अहंकार तक अविशेषावस्था है। ज्ञान का आधार महत्तत्व ही लिंगावस्था है और साम्यावस्था प्रकृति अर्थात् प्रधान की अवस्था ही अलिंगावस्था है। ये चारों सत्व, रज और तम के अवस्था भेद हैं।

प्रकृति का स्पष्ट उल्लेख श्वेताश्वरोपनिषद में भी है। श्वेताश्वरो० के अनुसार प्रकृति लोहित, शुक्ल, कृष्णरूप अर्थात् रज, सत्व और तमोगुणमयी है।[2] यहाँ भी प्रकृति को त्रिगुणात्मक स्वीकार किया गया है।

कुछ विद्वानों का कहना है कि गुण अपने गुणों से पृथक नहीं रह सकते अत: सत्व, रजस व तमस इन तीनों का आधार होना चाहिए लेकिन इन विद्वानों का यह मत भ्रांतिपूर्ण है। क्योंकि सांख्य स्पष्ट कह रहा है कि "सत्वादि धर्म नहीं है तद्रूप होने से " अर्थात् सत्वादि स्वयं प्रकृति है न कि किसी के धर्म। सांख्य के सत्वादि गुण वैशेषिक के गुण के समान नहीं है। वैशेषिक

1· "प्रकाशक्रियास्थितिशीलं भूतेन्द्रियात्मकं भोगापवर्गार्थं दृश्यम्।"योगदर्शन

2· "अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णाम्" श्वेता०उ० 4-5

के गुण धर्म धर्मी भाव से धर्मी के धर्म है जबकि सांख्य गुणों को स्वयं प्रकृति मानता है। प्रकृति सत्व, रज व तम की बनी है। स्वामी दयानन्द का भी यही मत है। इस प्रकार से सृष्टिकारिणी प्रकृति में सत्वगुण, रजोगुण और तमोगुण का समन्वय पाया जाता है।

5· प्रकृति और ईश्वर

वेद में ईश्वर को चेतन तथा अनन्त सता बतलाया है। प्रकृति को उसके सम्मुख तुच्छ अतएव ईश्वर से आच्छादित कहा है। ईश्वर गुणातीत है। प्रकृति गुणात्मिका है। ईश्वर इस प्रकृति में रहता हुआ भी इसके फल नहीं खाता।[1] वह अपरिणामी है परन्तु प्रकृति परिणामी है। ईश्वर जगत का निमित कारण है। प्रकृति मूल उपादान कारण है। इस प्रकार प्रकृति त्रिगुणातीत चेतन तथा अपरिणामी है। अत: परमेश्वर प्रकृति से भिन्न है। सर्वव्यापक होने से वह अभिन्न भी है।

स्वामी दयानन्द यह स्वीकार करते हैं कि ब्रह्म, जीव व जगत् दोनों से अति सूक्ष्म होने से इनमें व्यापक है जैसे अग्नि अति सूक्ष्म होने से लोहे में व्यापक हो जाती है। एक उपनिषद मंत्र के माध्यम से उसके भाष्य में स्वामी दयानन्द कहते हैं कि "एक प्रवेश दूसरा अनु प्रवेश अर्थात् प्रवेश कहाता है। परमेश्वर शरीर में प्रविष्ट हुए जीवों के साथ अनुप्रविष्ट के समान होकर वेद द्वारा सब नाम-रूप आदि की विद्या को प्रकट करता है।"[2] ब्रह्म प्रकृति के अन्दर व्यापक

1· अनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति । ऋ0 1/16/4/20

2· सत्यार्थ प्रकाश, पृष्ठ 130, सप्तमसमुल्लास

होकर उसको अवस्थान्तर युक्त करता है।

परमात्मा अनादि प्रकृति से कल्प के आदि में सृष्टि का निर्माण करता है तथा प्रलय काल में प्रकृति अत्यन्त सूक्ष्मावस्था में वर्तमान रहती है उसका नाश या ब्रह्म में लय नहीं होता। सायण ने गर्म लोहे का उदाहरण दिया है- जैसे गर्म लोहे में अग्नि और लोहा दोनों रहते हैं दोनों एक नहीं फिर भी मिले हुये हैं उसी प्रकार प्रलयविस्था में माया (प्रकृति) और ब्रह्म दोनों एक तत्व न होते हुए भी मिले रहते हैं। इससे यह सिद्ध है कि प्रलयावस्था में माया (प्रकृति) भी रहती है जिससे इस जगत का निर्माण होता है। जगत निर्माण के उपादान के रूप में यह परमात्मा पर आश्रित है, यदि परमात्मा इसे कारण रूप से कार्यरूप जगत में परिणत न करे तब सृष्टि का निर्माण प्रकृति स्वयं नहीं कर सकती, अर्था कार्यरूप होने के लिये यह ब्रह्म पर आश्रित रहती है, जैसे मृत्तिका अपने विकारों कुम्भ इत्यादि में परिणत होने के लिए कुम्भकार के आश्रित है परन्तु अपने अस्तित्व के लिए नहीं। उसी प्रकार मूल प्रकृति का अस्तित्व ब्रह्म के आश्रित नहीं वरन् प्रकृति अनादि है। दयानन्द के अनुसार प्रकृति परमात्मा की सामर्थ्य है। प्रकृति न तो ब्रह्म में अध्यास है न उसका परिणाम है।

आचार्य रामानुज प्रकृति को ब्रह्म का ही भाग मानते हैं। रामानुज ब्रह्म में प्रकृति को स्वगत भेद के अनुसार मानते हैं। इनके मत में प्रकृति ब्रह्म का ही अंश है। लेकिन स्वामी दयानन्द प्रकृति को ब्रह्म से पृथक अनादि तत्व के रूप में स्वीकार करते हैं। ब्रह्म व प्रकृति दोनों पृथक सत्ताएं हैं। ब्रह्म सृ का निमित कारण है और उपादान कारण प्रकृति है। यदि ब्रह्म अपने चेतन से सृष्टि बनायेगा तब वह परिणामी सिद्ध होगा परन्तु ब्रह्म अपरिणामी है।

परिणाम धर्म प्रकृति है। इस प्रकार दोनों स्वरूपत: भिन्न होते हुए भी प्रलयावस्था और सृजनावस्था में एकत्र रहने वाले हैं।

6· आस्तिक दर्शनों में प्रकृति

कार्य जगत के निर्माण में दो कारण परमावश्यक हैं। एक निमित कारण और दूसरा उपादान कारण। निमित कारण ईश्वर है और उपादान कारण प्रकृति। परमात्मा पूर्व विद्यमान प्रकृति से सृष्टि की उत्पत्ति करता है। प्रकृति की सत्ता को सभी आस्तिक दर्शनों में स्वीकार किया गया है।

सांख्य दर्शन में प्रकृति का विस्तार से वर्णन है। सांख्य तत्व विवेचन में प्रकृति के विभिन्न नाम गिनाये हैं- प्रकृति, माया, प्रधान, ब्रह्म, कारण अव्याकृत, तमस, पुण्य क्षेत्र और अक्षर।[1] प्रकृति का स्वरूप बतलाते हुए सूत्रकार लिखता है- सत्व, रज और तम की साम्यावस्था प्रकृति है।[2] संसार के समस्त जड़ पदार्थ इसी के विकार है। प्रकृति के बिना कार्य जगत की उत्पत्ति नहीं हो सकती क्योंकि अवस्तु से वस्तु की सिद्धि नहीं होती है।[3] सांख्यों के अनुसार कार्य किसी पूर्ववर्ती शून्य से उत्पन्न नहीं होता वरन् अपने कारण में पहले से ही विद्यमान रहता है। इस सिद्धांत को सत्कार्यवाद कहते हैं। सांख्य दर्शन में सत्कार्यवाद के सिद्धान्त के द्वारा यह स्पष्ट किया है कि यह कार्य जगत् विनाश की अवस्था में अपने मूल उपादान प्रकृति में लीन हो जाता है और जब सृजन होता है तब ईश्वर की प्रेरणा से उस मूल उपादान में से प्रादुर्भूत होता है। इस प्रकार कार्य

1· मनु0 1/8

2· सत्वरजतमसां साम्यावस्था प्रकृति । सांख्य 1 26

3· नावस्तुनावस्तु सिद्धि: । सांख्य 1 43

अपने उपादान कारण में "सत्" रूप में रहता है और वह उपादान कारण प्रकृति है जो कि नित्य है।

योगदर्शन में "अलिंग" शब्द प्रकृति के अर्थ में प्रयुक्त है। प्रकृति को अतिसूक्ष्म स्वीकार करते हुए सूत्रकार लिखता है- "सूक्ष्मविषयत्वचालिंग पर्यवसानम्"[1] अर्थात् सूक्ष्म विषय अलिंग (प्रकृति) तक है। इस सूत्र पर भाष्य करते हुए व्यास लिखते हैं कि इस सूत्र के द्वारा प्रकृति में अतिसूक्ष्मता का व्याख्यान किया गया है।[2] अपने कारण में लीन होने वाला लिंग जगत तथा अलिंग प्रकृति ये गुणों के ही अवस्थाभेद हैं। इस विषय को स्पष्ट करते हुए सूत्रकार लिखता है- "विशेषाविशेषलिंगमात्रालिंगानिगुणपर्वाणि।"[3] अर्थात् विशेष, अविशेष, लिंगमात्र और अलिंग ये गुणों के ही अवस्था भेद हैं।

योगदर्शन में भी सत्कार्यवाद के सिद्धांत को माना है। प्रलयकाल में यह सम्पूर्ण जगत् प्रकृति में लीन हो जाता है। परन्तु प्रकृति का कोई उपादान कारण नहीं है अतः वह किसी उपादान कारण में लीन नहीं होती अतः उसे इन सूत्रों में अलिंग कहा है। वाचस्पति मिश्र ने भी अलिंग शब्द का अर्थ प्रकृति लिया है।[4]

---

1. योग0 1/45
2. अतः प्रधाने सौक्ष्म्यं निरतिशयं व्याख्यातम्। योग व्यास भा0 पृ0 11
3. योग0 2/19
4. अलिंगम् प्रधानं तद्धि न क्वचिल्लयं गच्छति। योग0 वाचस्पति मिश्र टीका, पृष्ठ 62

न्याय-वैशेषिक भी प्रकृति की सत्ता को मानते हैं। न्याय दर्शन में मूल उपादान कारण अर्थात् प्रकृति को परमाणु रूप में स्वीकार किया गया है। गौतम ने न्याय दर्शन में परमाणुओं से सृष्टि की उत्पत्ति मानी है। न्याय दर्शन में परमाणु को नित्य स्वीकार किया गया है।

न्याय सांख्य की तरह सत्कार्यवाद को नहीं मानता। न्याय शास्त्र के अनुसार (बीज का) नाश हुए बिना (अंकुर की) उत्पत्ति न होने से अभाव से भाव की उत्पत्ति होती है।[1] परन्तु यदि ध्यान से देखा जाये तो न्याय में उपमर्दन और प्रादुर्भाव का पौर्वापर्य क्रमनिर्देश है। स्वामी दयानन्द इस सूत्र को न्याय शास्त्र में पूर्वपक्षी का सूत्र बताते हैं। उनके अनुसार "जो बीज का उपमर्दन करता है वह प्रथम ही बीज में था जो न होता तो उत्पन्न कभी न होता".[2] इस कारण से अभाव से भाव की सिद्धि नहीं होती स्वयं न्याय दर्शन में भी अभाव से भाव की उत्पत्ति का खण्डन किया है। उसमें बीज का दृष्टांत देते हुए कहा है- विनिष्ट बीज से अंकुर पैदा नहीं होता।[3] अंकुर से पहले मूल बीज अवश्य होता है। वात्स्यायन भी इस मूल पर भाष्य करते हुए लिखते हैं- विनष्ट बीज से अंकुर उत्पन्न नहीं होता अतः अभाव से भाव की उत्पति नहीं होती है।[4]

---

1. "अभावाद् भावोत्पत्तिर्नानुपमृद्य प्रादुर्भावात् न्याय० 4/1/14
2. सत्यार्थ प्रकाश, अष्टम समुल्लास पृष्ठ 145
3. न विनष्टेभ्यो निष्पतेः। न्याय०, 3/2/17
4. न विनिष्टाद्बीजादंकुर उत्पद्यत इति। तस्मान्नाभावाद्भावोत्पत्तिरिति
   न्याय वात्स्यायन भाष्य, पृ० 289

इस प्रकार न्याय दर्शन का असत्कार्यवाद से तात्पर्य यह नहीं है कि कार्य सर्वथा एक नवीन वस्तु है अर्थात् उत्पत्ति से पूर्व कारण में उसका सर्वथा अभाव नहीं रहता।

वैशेषिक दर्शन में भी परमाणुओं को अचेतन जगत का मूल उपादान माना गया है। मूल उपादान भूत परमाणु का अन्य कोई उपादान नहीं है, इसीलिए परमाणु नित्य है। वैशेषिक दर्शन में भी सत्कार्यवाद की तरह कार्य की कारण के सदृश सत्ता नहीं मानी गयी है। उनका मत है कार्य कारण में असत् रूप में ही रहता है। कार्य का अपने कारण में अभाव मानने से वैशेषिक का तात्पर्य यह है कि जब वस्तु की उत्पत्ति ही नहीं हुई तब उसके कार्य व गुणों का अभाव होगा। जैसे घट से पूर्व घट के क्रिया व गुण नहीं थे परन्तु मृत्तिका थी, मृत्तिका के क्रिया व गुण थे। मृत्तिका से घट की उत्पत्ति हुई, घट मृत्तिका में था परन्तु व्यक्त होने से घटरूप में परिणत हो गया अर्थात् कारण में कार्य समवाय रूप से है ऐसा वैशेषिक भी मानता है।[1] यदि कारण का अभाव होता है तो कार्य का भी अभाव होता है। अतः कारण का अभाव नहीं है वह नित्यरूप में सदा विद्यमान रहता है।

वेदांत दर्शन में भी प्रकृति की विद्यमानता को स्वीकार किया गया है। यद्यपि इसमें विशेष रूप से ब्रह्म का वर्णन पाया जाता है। वेदांत दर्शन का प्रथम सूत्र[2] ब्रह्मको जगत का निमित कारण बतलाता है और दूसरा सूत्र[3] प्रकृति को

1· कारणमिति द्रव्ये कार्य समवायात् । वैशेषिक सूत्र 10/2/1

2· जन्माद्यस्य यतः । ब्रह्मसूत्र 1/1/2

3· प्रकृतिश्च प्रतिज्ञा दृष्टान्तानुपरोधात्।। ब्रह्मसूत्र 1/4/23

उपादान कारण। जिस पर भाष्य करते हुए आचार्य शंकर लिखते हैं- कार्य जगत सावयव, अचेतन और अशुद्ध दिखाई दे रहा है कारण भी उसी प्रकार का होना चाहिए क्योंकि कार्य और कारण समान रूप वाले होते हैं। ब्रहम इस प्रकार के लक्षणों वाला नहीं है इस लिए ब्रहम से अन्य उपादान कारण जो अशुद्ध आदि गुण वाला है स्मृतियों में प्रसिद्ध है। सृष्टि की उत्पत्ति केवल निमितमात्र ब्रहम के होने पर ही नहीं हो सकती अत: यह मानना चाहिए कि प्रकृति उपादान कारण है और ब्रहम निमित कारण।[1] कुछ दार्शनिकों का यह विचार है कि वेदांत अद्वैत वादी दर्शन है तथा इसमें प्रकृति की सत्ता को ब्रहम से पृथक नहीं माना गया है। लेकिन यह उचित नहीं है। आचार्य शंकर ने उपादान कारण को ब्रहम से भिन्न माना है। श्री रामानुजाचार्य ने भी निमित कारण ब्रहम और उपादान प्रकृति दोनों स्वीकार किये हैं परन्तु वे प्रकृति को ब्रहम का ही भाग मानते हैं। रामानुज ब्रहम में प्रकृति को स्वगत भेद के अनुसार मानते हैं। उनके अनुसार प्रकृति ब्रहम का शरीर है इसलिए ब्रहम ही निमितकारण है और वही उपादान कारण है।[2] परन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं कि प्रकृति को ब्रहम से पृथक नहीं माना गया है। इस प्रकार कहने पर भी प्रलयावस्था में ब्रहम के चेतन रूप तथा उसके शरीर रूप में अचेतन रूप दोनों की सिद्धि होती है। श्री रामानुज अचेतन मूल उपादान

---

1. कार्यविदं जगत्सावयवमचेतनमशुद्धं च दृश्यते, कारणेनापि तस्य तादृशेनैव भवितव्यम्, कार्यकारणयो: सारूपदर्शनात्.....ब्रहमसूत्र 1/4/23, शांकरभाष्य पृष्ठ 328

2. न निमितकारणमात्रं ब्रहम उपादानकारणं च ब्रहमैवेत्यर्थ: ।। श्री भाष्य पृष्ठ 1317

कारण यानि प्रकृति को स्वीकार करते हैं। स्वाश्रित प्रकृति में ब्रह्मा स्वयं ही परिणाम पैदा करता है। इस प्रकार वेदांत दर्शन में चेतन ब्रह्म तत्व से अचेतन मूल उपादान की भिन्न सत्ता विद्यमान है जिसे प्रकृति कहा है।

स्वामी दयानन्द भी ब्रह्मसूत्रों में प्रकृति को ब्रह्म से पृथक अनादि तत्व के रूप में स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार वेदांत दर्शन में सृष्टि का निमित्त कारण ईश्वर है और उपादान कारण अनादि प्रकृति है, तर्कपूर्ण है।

7· सृष्टि उत्पत्ति के विभिन्न सिद्धान्त और महर्षि की मान्यताएं

प्रकृति जब साम्यावस्था से विषमावस्था में आ जाती है तब अपने स्वरूपवाली सृष्टि बना देती है। यह सृष्टि प्रलय के बाद यथापूर्व बनती चली आ रही है तथा प्रवाह से अनादि है। लेकिन प्रश्न है कि सृष्टि बनने से पूर्व प्रलयावस्था में प्रकृति का क्या रूप था, वह किसमें स्थित थी, अव्यक्तावस्था से निर्माण की दिशा उसे किसने दी तथा सृष्टि निर्माण के क्रम में किन-किन पदार्थों की कैसे-कैसे उत्पत्ति हुई? इस सब सृष्टि-विद्या का वर्णन वेद, उपनिषद और ब्राह्मण आदि में अत्यन्त रोचक रूप में मिलता है।

ताण्ड्य ब्राह्मण में कहा है- "प्रलयावस्था में प्रजापति एक था, न दिन था, न रात्रि थी। वह अंधकार के समान प्रकृति में रह रहा था उसने चाहा कि इससे {जगत की} उत्पत्ति करूँ।[1] इस समय सूर्य आदि सभी मूल-

---

1· प्रजापतिर्वा इदमेक आसीन्नाहरासीन्न रात्रिरासीत्सोऽस्मिन्नन्धे तमसि प्रसर्पत्स ऐच्छत्स एतमभ्यपश्यत ।। 16/1/1 {ता0म0 ब्रा0}

कारण में लीन थे। अत: उस समय अंधकार सा था। प्रलयावस्था में भौतिक अंधकार का निषेध तो वेद में भी किया गया है। वेद कहता है, "तब न मृत्यु थी न जीवन, न रात थी न दिन। वह एक [परमात्मा] अपनी शक्ति से ही अथवा स्वधा-प्रकृति के साथ बिना प्राणवायु के प्रणन कर रहा था और उससे परे कुछ न था।"[1] इसी प्रकार एक अन्य मंत्र में कहा है-"[प्रारम्भ में सब कुछ] अन्धकार था और अंधकार से व्यापी अव्यक्त प्रकृति थी, और यह सब अज्ञेय अवस्था में जल के समान एकाकार था। जो तुच्छ था। वह परमात्मा के तप से एक अर्थात् व्यक्त होने लगा।"[2]

प्रकृति की पूर्वावस्था इतनी गंभीर व अस्पष्ट थी कि विद्वान उसके विषय में कुछ नहीं बता सकते और न ही सूर्य, चन्द्रादि चमकीले पदार्थों के आधार पर कोई गणना की जा सकती है क्योंकि इसकी उत्पत्ति सृष्टि में बहुत बाद में जाकर हुई है। उस समय अव्यक्त प्रकृति तम से व्यापी हुई थी।

प्रारम्भ में प्रकृति अपने तीन गुण सत्व, रज और तम की साम्यावस्था में थी जैसा कि सांख्य कहता है। उस अवस्था में यह जगत न किसी के जानने

---

1. न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि न रात्र्या अह्न आसीत् प्रकेत: ।
आनीदवातं स्वधया तदेकं तस्माद्धान्यन्न पर: किंचनास ।। ऋ0 10/12[?]

2. तम आसीत्तमसा गुढहमग्रेऽप्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम्। तुच्छ्येनाभ्वपिहितं यदासीत्तपसस्तन्महिना जायतैकम् । ऋ0 10/129/3

न तर्क में लाने और न प्रसिद्ध चिन्हों से युक्त इन्द्रियों से जानने योग्य था।[1] क्योंकि कार्य जगत अपने सूक्ष्म कारण मूल प्रकृति में लीन था। उस समय प्रकृति की अवस्था गंभीर कोहरे के सदृश थी। उस अवस्था में परमाणु भी अपनी मूल कारणावस्था सत्व, रज व तम में लीन हो चुके थे। केवल सत्व, रज व तम का सूक्ष्म प्रधान सर्वत्र फैला हुआ था। उस समय (प्रलयावस्था में) असत् अर्थात् दृश्यमान जगत नहीं था। वेद में कहा गया है- "उस समय न असत् था न सत् परमाणु से भरा अन्तरिक्ष भी नहीं था और न परे का आकाश ही था। उस समय कहाँ क्या ढ़का हुआ था और किसके आश्रय से था? क्या बड़ा गंभीर पानी उस समय था?"[2]

उपरोक्त मंत्र के भाष्य में स्वामी जी ने लिखा है कि सर्वशक्तिमान परमेश्वर और जगत का कारण अर्थात् जगत बनाने की सामग्री विराजमान थी। उस समय शून्य नाम का आकाश भी नहीं था क्योंकि उस समय उसका व्यवहार नहीं था। उस काल में सतोगुण, रजोगुण और तमोगुण मिलाके जो प्रधान कहलाता है वह भी नहीं था। उस समय परमाणु भी नहीं थे। विराट अर्थात् जो सब स्थूल जगत के निवास का स्थान है वह भी नहीं था। लेकिन इससे यह संशय होता है कि जगत के कारण रूप पदार्थों के उस समय न होने का निषेध

1· सत्यार्थ प्रकाश, अष्टम समुल्लास, पृष्ठ 143

2· नसदासीन्नो सदासीत्तदानीं नासीद्रजो नोव्योमाऽपरोयत्।
किमावरीवः कुहकस्य शर्म्मन्नाम्भः किमासीद्गहनं गम्भीरम् ।।
(ऋ0 10/129/1

किया गया है। लेकिन ऐसा सोचना उचित नहीं है। जगत व्यक्तावस्था का नाम है। प्रलय में अव्यक्तावस्था का वर्णन महर्षि ने किया है। यहाँ पर सब का समाधान इस वाक्य से हो जाता है "क्योंकि उस समय उसका व्यवहार नहीं था।" उस समय आकाश का व्यवहार नहीं हो सकता था अतः कहा गया है कि उस समय आकाश नहीं था।

यहां प्रकृति का न होना नहीं बताया गया है बल्कि यह बताया गया है कि सत्व रजस और तमोगुणों के परस्पर वैषम्यावस्था में मिलने से जो स्थिति उत्पन्न होती है वह नहीं थी। अर्थात् प्रकृति उस समय साम्यावस्था में थी, अव्यक्त थी। दयानन्द का कहना है कि प्रकृति अतीव सूक्ष्म होकर परमात्मा की सामर्थ्य में विद्यमान थी।[1]

तैत्तिरीय ब्राह्मण में कहा है "यह दृश्यमान नामरूपात्मक कार्य जगत प्रलयावस्था में नहीं था। न द्युलोक था। न पृथिवी थी। न अन्तरिक्ष था, उस समय असत् था उसने विचार किया कि मै सत् हो जाऊँ।"[2] असत् शब्द से यहाँ नामरूपात्मक जगत की अव्यक्तावस्था अभिप्रेत है। "असत्" शब्द का प्रयोग प्रकृति के लिए और "सत" शब्द का प्रयोग कार्य जगत के लिए हुआ है। यद्यपि अचेतन प्रकृति में स्वयं कार्य जगत के रूप में परिणत हो जाने की सामर्थ्य नहीं हो सकती। सृष्टि उत्पन्न करने का विचार तो ईश्वर में ही उत्पन्न होता है

---

1. "किन्तु परब्रह्मण: सामर्थ्याख्यमतीव सूक्ष्मं सर्वस्यास्य परम कारण संज्ञकमेव तदानीं समवर्त्तत।" दयानन्द ग्रन्थमाला भाग 2, पृ0 40।

2. इदं वा अग्रे नैव किंचनासीत्। न घोरासीत्। न पृथ्वी । नान्तरिक्षम। तदसदेव सन्मनो कुरुत स्यामिति। तै0ब्रा02/2/9/।

वही मूल प्रकृति को कार्यरूप में परिणत करता है।

दयानन्द कहते हैं कि यह सब जगत सृष्टि के पहले अन्धकार से आवृत्त, रात्रि रूप में जानने के अयोग्य, आकाशरूप सब जगत् तथा तुच्छ अर्थात् अनन्त परमात्मा के सम्मुख एक देशी आच्छादित था। पश्चात् परमेश्वर ने अपनी सामर्थ्य से कारणरूप से कार्यरूप कर दिया।[1] अर्थात् यह जगत पहले असत् (अव्यक्त) था और असत् से अभाव से सृष्टि की उत्पत्ति नहीं हो सकती। सत् से अर्थात् भाव रूप तत्व से ही सृष्टि की उत्पत्ति सम्भव है। भावरूप तत्व ईश्वर भी है और प्रकृति भी दोनों के अस्तित्व से जगत रचना सम्भव है। ब्रहम प्रकृति से जो कि प्रारम्भ में अव्यक्तावस्था में थी, अनेक प्रकार की सृष्टि करता है जैसाकि तैतिरीयोपनिषद् भी कहता है कि प्रारम्भ में यह सब असत् अर्थात् अव्यक्त रूप असत् था उससे सत् व्यक्त हुआ और इसको अव्यकत से ब्रहम ने व्यक्त किया।[2] स्वामी दयानन्द उपनिषदों में वर्णित ब्रहम को सृष्टि का निमित कार मानते हैं। ब्रहम ही सृष्टि का उत्पन्न करने वाला है। क्योंकि जड़ प्रधान स्वर सृष्टि उत्पन्न नहीं कर सकता।

1· सत्यार्थ प्रकाश, अष्टम समुल्लास, पृष्ठ 139

2· "असद्दा इदमग्र आसीत् ततो वै सदजायत । तदात्मानं स्वयमकुरूत।"
तै0उ0 ब्रहमानन्द बल्ली अनु0 7 मंत्र ।

स्वामी दयानन्द सांख्य की सृष्टि प्रक्रिया को स्वीकार करते हैं। ये प्रकृति, प्रकृति विकृति और विकृति की श्रृंखला में कारण की कार्य रूप में परिणति या विकास से जगत की व्याख्या करते हैं। दयानन्द के अनुसार जब प्रकृति की साम्यावस्था नष्ट हो जाती है तो प्रकृति निश्चित नियमों के आधार पर विकृति की ओर चल देती है। प्रकृति का सर्वप्रथम विकार महत्तत्व बुद्धि है। बुद्धि ही प्रकृति की साम्यावस्था से विचलित होकर विश्रामावस्था का द्योतक महान् के रूप में सर्वप्रथम आविर्भूत होती है अत: उसे महत्तत्व कहते हैं। महत्तत्व से अहंकार और अहंकार से मन कीअभिव्यक्ति स्पष्ट ही है। सत्वप्रधान अहंकार से पाँच ज्ञानेन्द्रिय पांच कर्मेन्द्रियां और ग्यारहवें मन की उत्पत्ति होती है। तम: प्रधान अहंकार से शब्दतन्मात्र स्पर्शतन्मात्र, रूपतन्मात्र, रसतन्मात्र, गन्ध - तन्मात्र इन पांच सूक्ष्म भूतों की, शुद्ध स्वरूप पंचभूतों की उत्पत्ति होती है। इन्हें को स्वामी जी "तत्वपरमाणु" कहते हैं। इन सूक्ष्म भूतों या तत्व परमाणुओं के संयोग से पंचीकरण प्रक्रिया से पांच स्थूलभूतों- आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी की सृष्टि हुई।

जब ईश्वर इस जगत को रचता है तब कारण से कार्य रचता है। जैसा यह कार्यजगत दीखता है वैसा ही इसका कारण है। सूक्ष्म द्रव्यों को मिलाकर स्थूल द्रव्यों को रचता है तब स्थूल द्रव्य होकर देखने और व्यवहार के योग्य हो हैं और यह जो अनेक प्रकार का जगत् दीखता है उसको इसी कारण से ईश्वर ने रचा है, जब प्रलय करता है तब इस स्थूल जगत के पदार्थों के परमाणुओं को पृथ पृथक कर देता है क्योंकि जो-जो स्थूल से सूक्ष्म होता है वह आंखों से देखने में नहीं आता तब बालबुद्धि लोग ऐसा समझते हैं कि वह द्रव्य नहीं रहा परन्तु

वह सूक्ष्म होकर आकाश में ही रहता है, क्योंकि कारण का नाश कभी नहीं होता और नाश अदर्शन को कहते हैं अर्थात् वह देखने में न आये। जब एक-एक परमाणु पृथक-पृथक हो जाते हैं तब उनका दर्शन नहीं होता फिर जब वे ही परमाणु मिलकर स्थूल द्रव्य होते हैं तब सृष्टि में आते हैं।

दयानन्द के अनुसार "सबसे सूक्ष्म टुकड़ा अर्थात् जो काटा नहीं जाता उसका नाम परमाणु, साठ परमाणुओं से मिले हुये का नाम अणु है। दो अणु का एक द्वयणुक जो स्थूल वायु है, तीन द्वयणुक का अग्नि, चार द्वयणुक का जल पांच द्वयणुक की पृथिवी आदि दृश्य पदार्थ होते हैं।"[1] सृष्टि में परमाणु बाद में उत्पन्न हुये। सृष्टि क्रम में महत्तत्व प्रकृति का प्रथम विकार है। महत्तत्व के पश्चात अहंकार की उत्पत्ति हुई। अहंकार से प्रकृति में पृथकता का भाव उत्पन्न हुआ जिसके परिणाम स्वरूप सूक्ष्म अवयवों के रूप में पंचतन्मात्राओं की उत्पत्ति हुई। परमाणु पंच तन्मात्राओं के सूक्ष्मतम अवयवों के रूप में उत्पन्न हुये। परमाणुओं की उत्पत्ति के पश्चात् की सृष्टि उत्पत्ति सांख्यों ने लगभग न्याय-वैशेषिक के अनुसार मानी है। न्याय वैशेषिक प्रकृति की परमाणु अवस्था तक रहे जबकि सांख्य प्रकृति की उससे भी सूक्ष्म अवस्था सत्व, रज व तम तक पहुंच गया। लेकिन इनका आपस में कोई विरोध नहीं है। स्वामी ओमानन्द जी कहते है "जहां से न्याय-वैशेषिक ने स्थूल सृष्टि का क्रम दिखाया है वहीं से सांख्य मूल जड़तत्व की खोज में सूक्ष्मतर एवं सूक्ष्मतम सृष्टि के क्रम की ओर गया है। जिस

---

1. स्वामी दयानन्द, सत्यार्थ प्रकाश, अष्टमसमुल्लास, पृष्ठ 153

जड़तत्व के अन्तर्गत विभु और अणु दोनों प्रकार के जड़पदार्थ है वह सबसे प्रथम जड़तत्व तीन गुण है सत्व, रजस और तमस।"[1] स्वयं स्वामी दयानन्द के अनुसार वैशेषिक के परमाणुवाद व सांख्य के प्रकृतिवाद के सिद्धान्त में कोई विरोध नहीं है। उन्होंने सांख्य के प्रकृतिवाद और वैशेषिक के परमाणुवाद का सामंजस्य स्थापित किया है। सांख्य के परिणामवाद और वैशेषिक के आरम्भवाद को भी अविरोधी बनाकर यथास्थान नियोजित किया है। प्रकृति से विकृति परिणाम है और परमाणुओं का संयोग सृष्टि का आरम्भ है।

दयानन्द के अनुसार वैदिक षड्दर्शन सृष्टि उत्पत्ति के छ: भिन्न-भिन्न पहलुओं पर अलग-अलग विचार करते हैं, जैसे मीमांसा में कर्म, वैशेषिक में काल, न्याय में परमाणु, योग में पुरुषार्थ, सांख्य में प्रकृति और वेदान्त में ब्रहम से सृष्टि की उत्पत्ति मानी है।[2] स्वामी दयानन्द इसे सृष्टि वर्णन का क्रम भेद मानकर षड्दर्शनों में समन्वय स्थापित कर देते हैं।

दयानन्द के अनुसार सांख्य के गुण परमाणु की विखंडित हुई शक्ति है। विखण्डन के पश्चात् परमाणु अवयवों में विभाजित न होकर सत्व, रज व तम में परिवर्तित हो जाता है परमाणु के विखण्डन के विषय में आधुनिक विज्ञान की भी यही मान्यता है। विज्ञान के अनुसार परमाणु विखण्डनीय है। खंडित होकर

1· पातंजल योग प्रदीप, पृष्ठ 98, ओमानन्द तीर्थ

2· स्वामी दयानन्द, सत्यार्थ प्रकाश, अष्टमसमुल्लास, पृष्ठ 148

यह तीन रूपों प्रोटोन इलेक्ट्रोन व न्यूट्रोन में विभाजित हो जाता है। विज्ञान की प्रोटोन, इलेक्ट्रोन व न्यूट्रोन की मान्यता सांख्यों के सत्व रज व तम की ही है। विज्ञान इन्हीं तीनों से परमाणुओं की उत्पत्ति मानता है।

परमाणु के संयोग से ही आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी की सृष्टि होती है। दयानन्द सृष्टि विवरण में तैतिरयोपनिषद् का एक मंत्र प्रस्तुत करते हैं-" उस परमेश्वर और प्रकृति से आकाश अवकाश अर्थात् जो कारणरूप द्रव्य सर्वत्र फैल रहा था उसको इकट्ठा करने से अवकाश उत्पन्न सा होता है। वास्तव में आकाश की उत्पत्ति नहीं होती क्योंकि बिना आकाश के प्रकृति और परमाणु कहां ठहर सकें? आकाश के पश्चात् वायु, वायु के पश्चात् अग्नि, अग्नि के पश्चात् जल, जल के पश्चात् पृथ्वी, पृथ्वी से औषधि, औषधियों से अन्न, अन्न से वीर्य्य, वीर्य से पुरुष अर्थात् शरीर उत्पन्न होता है। यहां आकाशादि क्रम से और छान्दोग्य में अग्नियादि, एतरेय में जलादि क्रम से सृष्टि हुई।"[1]

दयानन्द का कहना है कि जब महाप्रलय होता है उसके पश्चात आकाश आदि क्रम अर्थात् जब आकाश और वायु का प्रलय नहीं होता और अग्न्यादि का होता है, अग्नियादि क्रम से और जब विद्युत अग्नि का भी नाश नहीं होता तब जल क्रम से सृष्टि होती है। अर्थात् जिस-जिस प्रलय में जहां-जहां तक प्रलय होता है वहां-वहां से सृष्टि की उत्पत्ति होती है।

स्वामी दयानन्द का सृष्टि उत्पत्ति क्रिया का वर्णन अपने में वैज्ञानिक है। एवं इसकी मुख्य-मुख्य बातें आधुनिक विज्ञान की खोजों से पूर्णतया मेल खा

---

1. सत्यार्थ प्रकाश, अष्टमसमुल्लास, पृष्ठ 148

जाती हैं। उनका कहना है कि यह समस्त ब्रहमाण्ड, जिसमें सुर्य जैसे एवं इससे भी वृहत् करोड़ों पिण्ड है आश्चर्यजनक रूप से वृहद् हैं। परन्तु परमात्मा के सम्मुख तुच्छ एवं उसके किंचित मात्र प्रदेश में हैं।[1] परमात्मा अनन्त है, विश्व सान्त। हमारी पृथ्वी व खगोल के अन्य आकाशीय पिण्ड परमात्मा ने पंचभूतों से उत्पन्न किये हैं। हमारी पृथ्वी पहले सूर्य का ही एक भाग थी, बाद में उससे पृथक हुई। पृथ्वी, सुर्य इत्यादि पिण्ड दयानन्द के अनुसार गतिशील हैं। "पृथ्वी सहित सौरमण्डल के अन्य ग्रह अपने उपग्रहों के साथ सुर्य के चारों ओर भ्रमण करते हैं।"[2] सुर्य पृथ्वी आदि का आकर्षण करता है तथा परमात्मा समस्त ब्रहमाण्ड को अपने आकर्षण से थामे हुये हैं।

दयानन्द का कहना है कि जैसी सृष्टि हमारी इस पृथ्वी पर है वैसी ही अन्य ग्रहों पर भी सृष्टि होगी परन्तु शरीर की बनावट में भेद होगा। परमात्मा ने अन्य ग्रहों पर भी मानवीय सृष्टि में पृथ्वी के समान वेदरूपी ज्ञान का प्रकाश किया है।

सृष्टि-उत्पत्ति-विद्या वेदों में अत्यन्त वैज्ञानिक रूप में मिलती है। यजुर्वेद के पुरुष सुक्त में भी सृष्टि उत्पत्ति वृतान्त पाया जाता है। सुक्त के अनुसार परमात्मा ने ब्रहमाण्ड को इक्कीस प्रकार की सामग्री से रचा और एक-एक लोक के चारों ओर सात परिधियों का निर्माण किया इनमें "पहिला समुद्र, दूसरा त्रसरेणु सहित वायु, तीसरा मेघमण्डल का वायु, चौथा वृष्टि जल

---

1. दयानन्द ग्रंथमाला भाग 2, पृष्ठ 408 श0 सं0 ।

2. दयानन्द ग्रंथमाला, भाग 2 पृष्ठ 43।

पांचवा वृष्टि जल से ऊपर एक प्रकार की वायु, छटा अत्यन्त सूक्ष्म वायु जिसको धनंजय कहते हैं तथा सातवां सूत्रात्मा वायु जो कि धनंजय से भी सूक्ष्म है।"[1]
ये सात आवरण हैं जिनमें से प्रत्येक एक दूसरे से उत्तरोत्तर सूक्ष्म हैं। परमात्मा ने सूर्य, चन्द्र आदि पदार्थों की रचना की और फिर जीवधारियों के शरीरों की पृथक-पृथक जाति के अनुसार रचना की।

परमात्मा ने जिस प्रकार के सूर्य, चन्द्र, द्यौ, भूमि अन्तरिक्ष और तत्रस्थ सुख विशेष पदार्थ पूर्वकल्प में रचे थे वैसे ही इस कल्प अर्थात् इस सृष्टि में रचे है तथा सब लोक लोकान्तरों में भी बनाये गये हैं।[2] सृष्टि की उत्पत्ति और प्रलय दिन और रात की तरह चलते रहते हैं। इसी से दयानन्द सृष्टिक्रिया को क्रम से अनादि कहते हैं। सृष्टि की रचना करना और उसका प्रलय करना दोनों ही ईश्वर का स्वभाव है। यह उत्पत्ति और नाश की व्याख्या ईश्वर सदा से करता आया है और सदा करता रहेगा। इस प्रकार सृष्टि और प्रलय का क्रम प्रवाह से अनादि है।

8· प्रकृति के संबंध में विभिन्न आचार्यों के सिद्धान्त और दयानन्द

ईश्वर, जीव और प्रकृति के संबंध में विचारों की परम्परा वेदों से लेकर आस्तिक दर्शनों तक अविच्छिन्न रूप में चली आई। प्रकृति के संबंध में

1· दयानन्द ग्रंथमाला, भाग 2 पृष्ठ 418

2· सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत् । दिवं च पृथ्वीं चान्तरिक्षमथो स्वः ।। ऋ0 10/190/3

विभिन्न दार्शनिक आचार्यों ने अपने-अपने मतानुसार प्राचीन साहित्य का भाष्य किया।

प्रकृति के विषय में आर्यमुनि वैशेषिक सूत्र पर भाष्य करते हुए लिखते हैं- भावरूप, कारण से रहित जो नित्य पदार्थ है वही जगत का मूल कारण है। मूल कारण प्रकृति की सिद्धि में जगत रूप कार्य लिंग है।[1] क्योंकि कारण के होने से ही कार्य होता है। आर्यमुनि की दृष्टि में प्रकृति को वेदान्त दर्शन में उपादान कारण माना गया है। क्योंकि परमात्मा के यत्न से और प्रकृति के परिणाम से यह जगत उत्पन्न होता है।

स्वामी दर्शनानन्द के अनुसार प्रकृति जगत का उपादान कारण है। यह सब जगत पहले प्रकृति की दशा में छिपा हुआ था और न तर्क से मालूम हो सकता था। इन्होंने प्रकृति की स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार की है।

स्वामी वेदानन्द तीर्थ ने प्रकृति को नित्य, कार्यरूप में परिणत होने वाली माना है। इनके अनुसार वेद में प्रकृति का नाम "अवि" है। यह सत्य नियम से ढकी रहती है,[2] अजन्मा तथा प्रलय काल में रूपों को निगलने वाली है।

प्रकृति के विषय में उदयवीर शास्त्री लिखते हैं- ऋग्वेदादि संहिता ग्रंथों में स्वधा, अदिति, त्रिगुण तथा वृक्ष आदि पदों से प्रकृति का जगत उपादान

---

1. तस्कार्य लिंगम। वै 4/1/2, आर्य भाष्य पृष्ठ 295
2. अविवै नाम देवत कृतेनास्ते परीवृता। अथर्व0 10/8/30, स्वाध्याय सन्दोह, पृष्ठ 56

के रूप में स्पष्ट तथा विशद वर्णन मिलता है।

स्वामी दयानन्द स्पष्ट शब्दों में कहते हैं कि जगत् का कारण प्रकृति अनादि पदार्थ है। वेद में प्रकृति को अनादि स्वीकार करते हुए महर्षि लिखते हैं- जीव परमात्मा और जगत का कारण (प्रकृति) तीन पदार्थ अनादि और नित्य हैं।[1]

उपनिषद के अनुसार महर्षि ने प्रकृति को अनादि मानते हुए लिखा है- जो जन्म रहित सत्त्व, रज, तमोगुणरूप प्रकृति है। वही स्वरूपाकार से बहुत प्रजारूप हो जाती है।[2] प्रकृति के विषय में महर्षि दयानन्द सांख्यों के समान हैं। वे सांख्यसूत्र के अनुसार लिखते हैं (सत्त्व) शुद्ध, (रज) मध्य, (तम) जाड्य अर्थात् जड़ता तीन वस्तु मिलाकर जो एक संघात है उसका नाम प्रकृति है।[3]

वेद उपनिषद और दर्शनों के आधार पर महर्षि दयानन्द अपना मन्तव्य स्पष्ट करते हुए लिखते हैं- अनादि पदार्थ तीन हैं। एक ईश्वर, द्वितीय जीव, तीसरा प्रकृति अर्थात् जगत का (उपादान) कारण, इन्हीं को नित्य भी कहते हैं। जो नित्य पदार्थ हैं उनके गुण, कर्म और स्वभाव भी नित्य हैं।

इस प्रकार स्वामी जी ने ईश्वर, जीव और प्रकृति तीनों को अजन्मा माना है। इन तीनों तत्वों में से परमेश्वर सबका आधार तथा सर्वव्यापक है। और सभी तत्व व्याप्य हैं। दयानन्द प्रकृति की नित्यता को एक शाश्वत सत्य के रूप में मानते हैं।

---

1. दयानन्द भाष्य ऋ0 1/164/30, पृ0 44/2
2. अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णा वह्वीः प्रजाः सृजमानां स्वरूपाः। श्वेता0 उ04/5
3. सत्यार्थ प्रकाश, अष्टम समुल्लास, पृष्ठ 140

अध्याय- IV

स्वामी दयानन्द की ज्ञान मीमांसा

1. ज्ञान का स्वरूप

सभी जीवधारियों में मनुष्य की विशेषता उसका ज्ञान है। ज्ञान मनुष्य के लिए अत्यन्त आवश्यक है। ज्ञान के कारण ही वह अन्य जीवों से पृथक है। वह जहां अन्य विषयों का चिंतन करता है वहां ज्ञान को भी विचार का विषय बनाता है। भारतीय दर्शन में ज्ञान किसे कहते हैं? ज्ञान प्राप्ति के क्या साधन हैं? इन विषयों पर काफी विचार किया गया है। उपनिषद ज्ञान को दो भागों में बांटता है- परा विद्या और अपरा विद्या। परा विद्या को इस प्रकार परिभाषित कर सकते हैं- जिसको जानने से सब कुछ का ज्ञान हो जाता है। इसका निषेधात्मक पक्ष अपरा विद्या है। लेकिन उपनिषदों में ज्ञान और उनके साधन आदि विषयों पर प्रमाणशास्त्र की दृष्टि से विवेचन नहीं है। न्याय-दर्शन में इसका विशेष रूप से विवेचन हुआ है। न्याय ज्ञान को मोक्ष प्राप्ति का साधन मानता है। ज्ञान स्वत: क्या है और उसकी प्रमाणिकता कहां तक है? यह जानने के लिए ज्ञान, ज्ञेय, ज्ञान का साधन यानि प्रमाण और ज्ञाता इन चार विषयों का निरूपण किया जाता है।

स्वामी दयानन्द का ज्ञान सिद्धांत यथार्थवाद के अनुरूप है। स्वामी दयानन्द ज्ञान को इस प्रकार परिभाषित करते हैं कि "यथार्थ दर्शनं ज्ञानमिति" अर्थात् यथार्थ दर्शन ही ज्ञान है। "ज्ञान उसको कहते हैं जिससे ज्यों का त्यों जाना जाय अर्थात् जो पदार्थ जिस प्रकार का हो उसको उसी प्रकार जानने का

नाम ज्ञान है।[1] ज्ञान तीन प्रकार का है- 1· यथार्थ ज्ञान 2· मिथ्या ज्ञान 3· संशयात्मक ज्ञान। संशयात्मक ज्ञान अनिर्णयात्मक होता है इसलिए मनुष्य संशय की स्थिति में नहीं रहना चाहता। वह हमेशा यथार्थ ज्ञान को जानने की कोशिश करता है। यथार्थ ज्ञान के लिए ही ज्ञान या प्रमा शब्द का प्रयोग होता है। स्वामी दयानन्द यथार्थ ज्ञान को इस प्रकार परिभाषित करते हैं- "जिससे पदार्थों का यथार्थ स्वरूप बोध होवे वह विद्या और जिससे तत्व स्वरूप न जान पड़े, अन्य में अन्य की बुद्धि होवे वह अविद्या है।"[2]

सत्य ज्ञान की प्रामाणिकता का आधार पदार्थ की अनुरूपता है। पदार्थ का यथार्थ दर्शन उसका अपने स्वभाव का ज्ञान है। आचार्य शंकर सत्य ज्ञान के विषय में कहते हैं जो किसी अन्य ज्ञानके द्वारा बाधित न हो वह ज्ञान सत्य है लेकिन शंकराचार्य जगत को भ्रम मानते हैं जिसका उनके अनुसार परमार्थ में बाध हो जाता है। स्वामी दयानन्द शंकराचार्य की इस बात से कि सत्य ज्ञान वह है जो किसी अन्य ज्ञान से बाधित न हो सहमत हैं परन्तु दयानन्द की सत्य ज्ञान की व्याख्या किसी सत्ता विशेष से संबंधित नहीं है। उनके अनुसार हर वस्तु के यथार्थ स्वरूप को जानना ही सत्य ज्ञान है। "जो सत्य है उसको सत्य और जो मिथ्या है उसको मिथ्या ही प्रतिपादन करना सत्य अर्थ का प्रकाश समझा है। वह सत्य नहीं कहाता जो सत्य के स्थान में असत्य और असत्य के स्थान

1· स्वामी दयानन्द, सत्यार्थ प्रकाश, सप्तमसमुल्लास, पृष्ठ 125

2· स्वामी दयानन्द, सत्यार्थ प्रकाश, नवमसमुल्लास, पृष्ठ 158

में सत्य का प्रकाश किया जाय। किन्तु जो पदार्थ जैसा है उसको वैसा ही कहना, लिखना और मानना सत्य कहाता है।[1]" अर्थात् पदार्थों का यथावत् मानना ही सत्य ज्ञान है।

ज्ञान जीव का धर्म है। ज्ञान के दो प्रकार हैं-1. स्वाभाविक ज्ञान 2. नैमित्तिक ज्ञान। स्वाभाविक ज्ञान नित्य रहता है- और नैमित्तिक अनित्य। आत्मा को अपने अस्तित्व का ज्ञान स्वाभाविक ज्ञान है परन्तु चक्षु श्रोत्र इत्यादि इन्द्रियों से जो ज्ञान प्राप्त होता है वह नैमित्तिक ज्ञान है। इन्द्रियों से प्राप्त होने वाला सारा ही ज्ञान सत्य नहीं होता क्योंकि इन्द्रियों का द्रव्य से सीधा संबंध नहीं होता उनका सम्पर्क गुणों से होता है। इसलिए तत्व के स्वरूप को जानने में इन्द्रियें अंशत: सफल होती है। तीक्ष्ण बुद्धि पदार्थों के ज्ञान को, उनके वास्तविक स्वरूप को जानने में समर्थ होती है। तत्वों के स्वरूप को सही-सही जानना ही सत्य ज्ञान की अंतिम सीमा है। तत्वज्ञान का अंतिम लक्ष्य मनुष्य के सद्गुणों का उन्नयन करके मुक्ति प्रदान करना है। इससे बढ़कर ज्ञान की और क्या उपयोगिता होगी।

2. ज्ञान की सीमा

यह एक बहुत महत्त्वपूर्ण प्रश्न है कि क्या हम लोग सब कुछ जान सकते हैं। यह सत्य है कि हम लोग सब कुछ नहीं जान सकते। हम जो ज्ञान प्राप्त करते हैं वह सही भी हो सकता है, गलत भी हो सकता है और आंशिक सही भी हो सकता है। स्वामी दयानन्द कहते हैं कि आत्मा का ज्ञान सीमित है और इसलिए वह ब्रह्म के समान सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान नहीं हो सकता। जीव या आत्मा सीमित योग्यता के साथ सीमित समय में यह नहीं जान सकता कि क्या

---

1. सत्यार्थ प्रकाश, भूमिका, पृष्ठ 2

असीमित है।

स्वामी दयानन्द के अनुसार ज्ञाता के जानने की शक्ति बहुत सीमित है। यह सब कुछ नहीं जान सकती और जो कुछ यह एक बार जानती है उसे हमेशा के लिए स्मृति में नहीं रख सकती। दूसरी बात यह है कि जिस मन से वह ज्ञान करता है वह भी एक समय में दो ज्ञान नहीं कर सकता। मन एक समय में केवल एक ज्ञान प्राप्त करता है और इन्द्रियां मन की सहायता के बिना कोई कार्य नहीं कर सकती। ज्ञान एक ऐन्द्रिक ज्ञान है लेकिन मन और आत्मा सहायक हैं। इन्द्रियां केवल उद्देश्य के एक पहलू का ज्ञान देती है। हमारा मुख्य उद्देश्य वस्तु के वास्तविक स्वरूप को जानना है। इन्द्रिय द्वारा दिये हुए विषय प्राय: समान होते हैं लेकिन उनका महत्त्व ज्ञान की प्राप्ति में वृद्धि करना है। ये वृद्धि मन और आत्मा के काम पर निर्भर है। आत्मा अन्तिम रूप से निश्चय करता है कि क्या सही है और क्या गलत है।

यह सत्य है कि जीव या आत्मा अल्पज्ञ है और उसके ज्ञानसाधन भी सीमित हैं अत: वह पूर्ण और असंदिग्ध ज्ञान नहीं प्राप्त कर सकता।[1] लेकिन स्वामी दयानन्द इस बात को स्वीकार करते हैं कि यदि मनुष्य प्रमाणों का ठीक उपयोग करे तो ज्ञेय वस्तुओं का निश्चित और असंदिग्ध ज्ञान प्राप्त कर सकता है।

---

1. "जीव का सामर्थ्य शरीरादि पदार्थ और साधन परिमित हैं।"
सत्यार्थ प्रकाश, नवमसमुल्लास, पृष्ठ 164

डा० देवराज ने "ज्ञान के स्रोत और सीमाएं लेख"[1] में ज्ञान की सीमाएं बताते हुए कहा है कि यदि हमारी ज्ञानेन्द्रियों की संख्या अधिक होती तो हम कुछ और ऐसा जानते जो अब नहीं जान सकते। किन्तु यह कहना ठीक नहीं। इन्द्रियों से हम संवेदन करते हैं जानते नहीं हैं। डा० देवराज ने ज्ञान की सीमाएं सर्वथा अनुपयुक्त रूप से बताई हैं। ज्ञान की तथ्यात्मक सीमा तो अवश्य होती है किन्तु ज्ञान की तार्किक सीमा नहीं हो सकती अर्थात् स्वरूपत: कुछ अज्ञेय नहीं हो सकता।

3· प्रत्यक्ष प्रमाण

यथार्थ ज्ञान की प्राप्ति में प्रमाण अर्थात् ज्ञान के साधनों का विशेष महत्व है। असंदिग्ध, अविपरीत बोध प्रमा है और इस बोध का साधन प्रमाण है। प्रमाणों के विषय में दयानन्द न्यायमत पर आश्रित हैं। प्रमाणों की संख्या और इनके लक्षण मुख्यत: न्यायशास्त्र के अनुसार निर्धारित किये गये हैं।[2]

प्रत्यक्ष के विषय में स्वामी दयानन्द न्याय सूत्र के अनुसार कहते हैं "जो श्रोत्र, त्वचा, चक्षु, जिह्वा और घ्राण का शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध के

1· दृष्टव्य-यशदेव शल्य-समकालीन दार्शनिक समस्याएं, लेख 1, म० भा० दर्शन परिषद् 1966

2· "इनमें से प्रत्यक्ष के लक्षणादि में जो-जो सूत्र नीचे लिखेंगे वे सब न्यायशास्त्र के प्रथम और द्वितीय अध्याय के जानो।" सत्यार्थ प्रकाश, तृतीय समुल्लास, पृष्ठ 37

साथ अव्यवहित अर्थात् आवरणरहित संबंध होता है, इन्द्रियों के साथ मन का और मन के साथ आत्मा के संयोग से ज्ञान उत्पन्न होता है, उसको प्रत्यक्ष कहते हैं।"[1] लेकिन प्रत्यक्ष संज्ञासंज्ञी के संबंध से उत्पन्न ज्ञान नहीं होता। प्रत्यक्ष अव्यपदेश्य होता है। जैसे किसी ने कहा कि - "पानी लाओ, वह पानी लाता है और कहता है कि "यह पानी है।" प्रत्यक्ष की वस्तु पानी स्वयं है। ज्ञान एक शब्द से उत्पन्न होता है जिसका विषय शब्द प्रमाण है। प्रत्यक्ष की दूसरी दशा यह है कि वह अव्यभिचारी होना चाहिए। उदाहरण के लिए-कोई आदमी रात में खम्भा देखता है, उसको पुरुष का भ्रम होता हैजब वह दिन में देखता है तब पुरुष का ज्ञान लुप्त हो जाता है और उस स्थान पर खम्भे का ज्ञान हो जाता है। ज्ञान जो लुप्त हो जाता है उसको व्यभिचारी कहते हैं और वो प्रत्यक्ष की श्रेणी में नहीं आता। बाधित न होने पर ही प्रत्यक्ष यथार्थ ज्ञान है। तीसरी दशा व्यवसायात्मक है। उसे व्यवसायात्मक अर्थात् निश्चयात्मक होना चाहिए। कोई दूर से नदी की बालू को देखता है और कहता है कि वहाँ वस्त्र सूख रहे हैं जल है या कुछ और अथवा कोई कहता है "क्या वह देवदत्त खड़ा है यायज्ञदत्त। ज्ञान प्रत्यक्ष नहीं कहा जा सकता जब तक वह विश्वास योग्य न हो। इसलिए प्रत्यक्ष ज्ञान केवल वह है जो इन तीन दोषों से मुक्त हो- 1· यह नाम से उत्पन्न ज्ञान नहीं होना चाहिए 2· यह परिवर्तनीय नहीं होना चाहिए 3· यह विश्वास योग्य होना चाहिए।" जो अव्यपदेश्य अव्यभिचारी और निश्चयात्मक ज्ञान है उसी को प्रत्यक्ष कहते हैं।[2]

1· सत्यार्थ प्रकाश, तृतीय समुल्लास, पृष्ठ 37

2· वही, पृष्ठ 38

स्वामी दयानन्द प्रत्यक्ष के लिये इन्द्रिय व मन के संयोग को आवश्यक मानते हैं। इसके अतिरिक्त मन का आत्मा से संयोग भी आवश्यक है। आत्मा के बिना मन जड़ है। स्वामी दयानन्द कहते हैं हम लोगों के पास आत्मा है, आत्मा जिसके पास जानने की क्षमता है और जो जानने का साधन है। यदि इस उपकरण को सही ढंग से प्रयोग किया जाये यह ज्ञान देगा यदि इसको गलत ढंग से प्रयोग किया जाए यह गलत ज्ञान देगा। उनके शब्दों में "अब विचारना चाहिए कि इन्द्रियों और मन से गुणों का प्रत्यक्ष होता है गुणी का नहीं। जैसे चारों त्वचा आदि इन्द्रियों से स्पर्श, रूप, रस और गंध का ज्ञान होने से गुणी जो पृथिवी है उसका आत्म-युक्त मन से प्रत्यक्ष किया जाता है।"[1]

प्रत्यक्ष ज्ञान दो प्रकार का होता है- बाह्य और अन्त:। बाह्य प्रत्यक्ष आँख, कान, नाक, त्वचा तथा जिह्वा के द्वारा होता है। रूपादि बाह्य विषयों का चक्षु आदि इन्द्रियों के सन्निकर्ष से ज्ञान बाह्य प्रत्यक्ष है। सुख दुख आदि का ज्ञान अन्त: ज्ञान है, वह मानस प्रत्यक्ष है। मानस प्रत्यक्ष मानसिक अनुभूतियों के साथ मन के संयोग से होता है।

स्वामी दयानन्द ने प्रत्यक्ष का इतना सूक्ष्म विश्लेषण तो नहीं किया परन्तु वे प्रत्यक्ष के लिए इन्द्रिय व मन के संयोग के साथ आत्मा के संयोग को भी आवश्यक मानते हैं। इन्द्रिय व मन के संयोग से आत्मा ही ज्ञाता है। गौतम ज्ञाता को अकेले छोड़ देते हैं। उनके लिए ज्ञाता एक स्वत: सिद्ध सत्य है, जिसको सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं है।

---

1. सत्यार्थ प्रकाश, सप्तमसमुल्लास, पृष्ठ 118

4. अनुमान

एक अन्य प्रमाण अनुमान है। अनुमान प्रमाण का लक्षण है- "जो प्रत्यक्ष पूर्वक अथवा जिसका कोई एक देश या सम्पूर्ण द्रव्य किसी स्थान वा काल में प्रत्यक्ष हुआ हो उसका दूर देश से सहचारी एक देश के प्रत्यक्ष होने से अदृष्ट अवयवी का ज्ञान होने को अनुमान कहते हैं। जैसे पुत्र को देख के पिता, पर्वतादि में धूम को देख के अग्नि, जगत में सुख-दुख देख के पूर्वजन्म का ज्ञान होता है।"[1]

अनुमान व्याप्ति के बिना संभव नहीं है। साधन और साध्य का अविच्छेद्य संबंध ही व्याप्ति है। इस प्रकार पक्षसत्व, सपक्षसत्व और विपक्षासत्व युक्त व्याप्ति के आधार पर अनुमान होता है।

स्वामी दयानन्द वात्स्यायन की तरह प्रत्यक्ष के बिना अनुमान को असंभव मानते हैं। लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि वे केवल प्रत्यक्ष को मानते हैं। वे कहते हैं "जैसे आँख सबको देखती है परन्तु अपने को नहीं, इसी प्रकार प्रत्यक्ष का करने वाला अपने को ऐन्द्रिय प्रत्यक्ष नहीं कर सकता। जो अपनी आँख से सब घट पटादि पदार्थ देखता है वैसे आँख को अपने ज्ञान से देखता है। जो दृष्टा है वह दृष्टा ही रहता है दृश्य कभी नहीं होता।"[2] स्वामी दयानन्द का कहने का मतलब यह है कि यदि केवल प्रत्यक्ष को स्वीकार करते हैं तो ज्ञाता का ज्ञान असंभव हो जायेगा। आँख का ज्ञान भी जो सारे प्रत्यक्ष

---

1. अथ तत्पूर्वकं त्रिविधमनुमानं पूर्ववच्छेषवत्सामान्यतो दृष्टंच ।। न्याय० अ० 1/आ० 1/सू० 5, एवं सत्यार्थ प्रकाश, तृतीयसमुल्लास, पृ० 38
2. स्वामी दयानन्द, सत्यार्थ प्रकाश, द्वादशसमुल्लास, पृष्ठ 276

का आधार है, असंभव है। इसलिए महत्त्व अन्य प्रमाणों का भी है। अनुमान तीन प्रकार का है-

1· पूर्ववत्- जहाँ-जहाँ कारण को देख के कार्य का ज्ञान हो वह पूर्ववत् है। जैसे बादलों को देख के वर्षा, विवाह को देख के सन्तानोत्पत्ति, पढ़ते हुए विद्यार्थियों को देख के विद्या होने का निश्चय होता है, इत्यादि।

2· शेषवत्- जहाँ कार्य को देख के कारण का ज्ञान हो। जैसे नदी के प्रवाह को बढ़ता देख के ऊपर हुई वर्षा का, पुत्र को देख के पिता का, सृष्टि को देख के अनादि कारण का तथा कर्त्ता ईश्वर का और पाप पुण्य के आचरण देख के सुख-दुख का ज्ञान होता है, इसी को शेषवत् कहते हैं।

3· सामान्यतोदृष्ट- "जो कोई किसी का कार्य कारण न हो परन्तु किसी प्रकार का साधर्म्य एक दूसरे के साथ हो जैसे कोई भी बिना चले दूसरे स्थान को नहीं जा सकता वैसे ही दूसरों का भी स्थानान्तर में जाना बिना गमन के कभी नहीं हो सकता।"[1] सामान्यतोदृष्ट के आधार पर ही नैयायिक आत्मा के होने का अनुमान लगाते हैं। इच्छादि गुण हैं और गुण द्रव्य में रहते हैं अतः इन इच्छादि का जो स्थान है वह आत्मा है।

5· उपमान

तीसरा प्रमाण उपमान है। स्वामी दयानन्द कहते हैं कि-
"जो प्रसिद्ध प्रत्यक्ष साधर्म्य से साध्य अर्थात् सिद्ध करने योग्य ज्ञान की सिद्धि करने का साधन हो उसको उपमान कहते हैं। "उपमीयते येन तदुपमानम्" जैसे

1· सत्यार्थ प्रकाश, तृतीय समुल्लास, पृष्ठ 38

किसी ने किसी भृत्य से कहा कि "तू विष्णुमित्र को बुला ला" वह बोला कि मैने उसको कभी नहीं देखा" उसके स्वामी ने कहा कि" जैसा यह देवदत्त है वैसा ही विष्णुमित्र है" या जैसी यह गाय है वैसा ही गवय अर्थात् नीलगाय होता है, जब वह वहाँ गया और देवदत्त के सदृश उसको देख निश्चय कर लिया कि यही विष्णुमित्र है, उसको ले आया। अथवा किसी जंगल में जिस पशु को गाय के तुल्य देखा उसको निश्चय कर लिया कि इसी का नाम गवय है। ये सब उपमान प्रमाण हैं।"[1]

उपमान में तीन स्थितियां है- 1- वस्तु का प्रत्यक्ष दर्शन 2. साधर्म्य वाक्य का स्मरण और 3. दृष्ट वस्तु के साथ संज्ञासंज्ञी संबंध स्थापन।[2] गवय का प्रत्यक्ष दर्शन है, "जैसी गाय वैसा गवय" इस साधर्म्य का स्मरण और तदन्तर गवय संज्ञा का दृष्टवस्तु संज्ञी के साथ सम्बन्ध स्थापन है। कुछ भारतीय दर्शन उपमान-प्रमाण को नहीं मानते हैं। चार्वाक कहते हैं कि उपमान प्रमाण नहीं है, क्योंकि इससे नामी का यथार्थ ज्ञान नहीं मिल सकता। बौद्ध उपमान प्रमाण को मानते तो हैं किन्तु उनके अनुसार यह प्रत्यक्ष और शब्द का ही परिवर्तित रूप है। वैशेषिक इसको अनुमान में गिनता है और सांख्य इसे शब्द प्रमाण में। लेकिन उपमान न तो पूर्णरूप से प्रत्यक्ष है, न अनुमान और न शब्द

---

1. प्रसिद्धसाधर्म्यात्साध्यसाधनमुपमानम्। न्याय०अ० 1/आ०1/सू० 6
   एवं सत्यार्थ प्रकाश, तृतीय समुल्लास, पृष्ठ 38
2. न्याय सूत्र पर वात्स्यायन भाष्य- समाख्यासम्बन्धप्रतिपतिरूपमानार्थः संज्ञासंज्ञिसम्बन्धं प्रतिपाद्यते ।

प्रमाण । उपमान की विशेषता मनोवैज्ञानिक साम्यता है। मनोवैज्ञानिक कहते हैं कि यहाँ सदैव एक विलक्षण प्रभावशाली साम्य रहता है। पहले समय में किसी को देखकर हम दूसरे को पहिचानने में समर्थ हैं जिसको पहले कभी नहीं देखा। व्यक्ति को पहिचानना जिसको पहले कभी नहीं देखा, उपमान प्रमाण है।

तर्कशास्त्रीय विद्वान उपमान प्रमाण की आलोचना करते हैं और कहते हैं किसी वस्तु को केवल उपमा मात्र से जानना उचित नहीं है। इसकी वैधता को स्वीकार नहीं करना चाहिए। लेकिन न्याय दर्शन द्वारा स्वीकृत उपमान प्रमाण को स्वामी दयानन्द मानते हैं। उन्होंने प्रत्यक्ष साधर्म्य की बात कही है। ऐसा साधर्म्य जो गवय के देखने पर स्वतः ही गवय का निश्चय करा देता है।

6• शब्द

चौथा प्रमाण शब्द है। ज्ञान प्राप्ति में शब्द प्रमाण का महत्वपूर्ण एवं विशिष्ट स्थान है। कोई भी मनुष्य सबका प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं कर सकता। ऐसी अनेक वस्तुयें है जो हमारे ज्ञान के बाहर है, उनके ज्ञान के लिए हम लोग अन्य प्रमाण पर निर्भर करते हैं। इसके लिए न्यायसूत्र का मूलग्रंथ आप्त शब्द का उल्लेख करता है। "आप्तोपदेश शब्द" "जो आप्त अर्थात् पूर्ण विद्वान, धर्मात्मा, परोपकारप्रिय, सत्यवादी, पुरुषार्थी, जितेन्द्रिय पुरुष जैसा अपने आत्मा में जानता हो और जिससे सुख पाया हो उसी के कथन की इच्छा से प्रेरित सब मनुष्यों के कल्याणार्थ उपदेष्टा हो अर्थात् जितने पृथ्वी से लेकर परमेश्वर पर्यन्त पदार्थों का ज्ञान प्राप्त होकर उपदेष्टा होता है, जो ऐसे पुरुष और पूर्ण आप्त परमेश्वर के उपदेश वेद हैं, उन्हीं को शब्द प्रमाण जानो।"[1]

1• सत्यार्थ प्रकाश, तृतीय समुल्लास, पृष्ठ 38

स्वामी दयानन्द आप्त का लक्षण देते हैं कि "जो यथार्थवक्ता, धर्मात्मा, सब के सुख के लिए प्रयत्न करता है, उसी को "आप्त" कहता हूँ।"[1] आप्तों के प्रमाण्य के लिए न्यायदर्शन के वात्स्यायन भाष्य में स्वीकृत साक्षात्कृतधर्मता, भूतदया और यथाभूतार्थचिख्यापयिषा इन त्रिविध अनुबाधों को अपरिहार्य मानते हैं। ऐसे पुरुष जिन्होंने सत्य का साक्षात्कार किया हो और जो परोपकारी हो, वे ही आप्त कहलाते हैं और उनके वचन ही शब्द प्रमाण समझें जाते हैं। लेकिन यदि उनके वचन वेदों के विपरीत हों तो वेदों के वचन मान्य हैं। स्वामी दयानन्द ने वेदों को पूर्णत: स्वत: प्रमाण माना। उनके अनुसार "वेद ईश्वर कृत होने से निर्भान्त स्वत: प्रमाण अर्थात् वेद का प्रमाण वेद ही से होता है। ब्राहमणादि सब ग्रन्थ परत: प्रमाण अर्थात् इनका प्रमाण वेदाधीन है।"[2] लेकिन वेद को प्रमाण मानने पर कठिनाई यह होती है कि विभिन्न विद्वान उनकी परस्पर विरोधी व्याख्या करते हैं फिर किस व्याख्या को सही माना जाये इसलिए वेद को स्वत: प्रमाण मानने के लिए उनकी सही व्याख्या करना जरूरी है।

स्वामी दयानन्द स्वार्थ साधकों और प्रवंचकों के वाक्य को शब्द प्रमाण नहीं मानते। इस प्रकार स्वामी दयानन्द आप्तोपदेश की प्रामाणिकता

---

1. स्वामी दयानन्द, स्वमन्तव्यामन्तव्य- प्रकाश, पृष्ठ 38

2. सत्यार्थ प्रकाश,, तृतीय समुल्लास, पृष्ठ 47

स्थापित करते हैं और वेदों को प्रमाणित मानते हैं।

चार प्रमाण और हैं- अर्थात् ऐतिह्य, अर्थापत्ति, सम्भव और अभाव। ये चारों प्रमाण विशेष महत्त्व के नहीं है। इनको आसानी से पूर्व चारों में गिना जा सकता है। ऐतिह्य का अस्तित्व शब्द के द्वारा छुपाया जा सकता है और अन्य तीन का अनुमान के द्वारा । ऐतिह्य के शब्द के अन्तर्गत हो जाने से तथा अर्थापत्ति, सम्भव और अभाव के अनुमान के अन्तर्गत हो जाने से वस्तुत: चार ही प्रमाण रह जाते हैं।[1] स्वामी दयानन्द इन चारों प्रमाणों को स्वीकार करते हैं।

भारतीय दर्शन की कुछ अन्य पद्धतियां भी हैं, जिनमें केवल तीन प्रमाणों का उल्लेख किया जाता है। उपमान प्रमाण को अनुमान के अंदर रखा जाता है। सांख्य, योगदर्शन केवल तीन प्रमाणों का उल्लेख करता है- प्रत्यक्ष अनुमान और शब्द। स्वामी दयानन्द न्यायशास्त्रानुसार मुख्यत: चार प्रमाणों को स्वीकार करते हुए भी अन्तत: तीन-प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द की प्रबलता मान लेते हैं।

7· इन्द्रियों की विश्वसनीयता और अविद्या

इन्द्रियां ज्ञान प्राप्त करने में आत्मा के साधन हैं। सारा ज्ञान इन्हीं से होकर अन्त:करण में और वहां से जीवात्मा तक पहुँचता है। बहुत से लोग इन्द्रियों की सत्यता पर विश्वास नहीं करते हैं लेकिन शायद ही कुछ लोग ऐसे

1· शब्दऐतिह्यानर्थान्तरभावाद् अनुमानेऽर्थापत्तिसम्भवाभावाऽनर्थान्तर-भावाच्चा प्रतिषेध:-न्या०द० अ०2/आ०2/सू०2

हों जो इन्द्रियों के अस्तित्व में विश्वास न करें। सारी संवेदनाएं इन्द्रियों के साथ शुरू होती हैं और संवेदनाओं के प्राय: सारे सिद्धान्त इस विश्वास पर आधारित है कि इन्द्रियों का अस्तित्व है। कुछ दार्शनिक ऐसे हैं जो इन्द्रियों की सत्यता पर संदेह करते हैं। शंकराचार्य जी इन्द्रियजनित ज्ञान को मिथ्या मानते है उनके अनुसार अपनी जागृत अवस्था में जो कुछ भी हम प्रत्यक्ष करते हैं वो सब भ्रामक है और इसका कारण उसकी इन्द्रिय ग्राहयता को देते हैं। इसका मतलब कोई भी ज्ञान जो इन्द्रियां हमें देती है वो अवास्तविक है क्योंकि वो इन्द्रियों से प्राप्त होता है। इन्द्रियां हमेशा धोखा देती हैं।

इनके मत में इन्द्रियों से उत्पन्न होने के कारण प्रत्यक्ष ज्ञान भी अविद्यावत् है। ब्रहमसूत्रों पर लिखी चतुर्सूत्री में वह कहते हैं कि प्रत्यक्षादि सब प्रमाण व शास्त्र अविद्यावत् हैं।[1] इस प्रकार शंकर इन्द्रियों से उत्पन्न ज्ञान को सत्य नहीं मानते।

स्वामी दयानन्द के अनुसार इन्द्रियें ब्राह्य जगत का ज्ञान कराने वाले ज्ञानधिकरण हैं। परन्तु इन्द्रियें जो भी ज्ञान प्राप्त करती हैं वह केवल पदार्थों के गुण है जिनकी व्याख्या आत्मा से संयुक्त होकर मन करता है। स्वामी दयानन्द के अनुसार आत्मा ज्ञानरूप है वह सत्यासत्य को जानने वाला है परन्तु मन पर पड़े पूर्व संस्कारों के प्रभाव से मिथ्या उपलब्धि की ओर झुक जाता है।

भ्रम या मिथ्या ज्ञान का कारण अविद्या है। अविद्या का मतलब

---

1. "अविद्यावद् विषयानि प्रत्यक्षादीनि प्रमाणानि शास्त्राणिचेति।"
   वेदान्त पर शंकर भाष्य की चतुर्सूत्री से।

ज्ञान का अभाव नहीं बल्कि गलत ज्ञान होना है। दोषयुक्त ज्ञान अज्ञानता है। जो भी ज्ञान हमें इन्द्रियों से प्राप्त होता है वह सब ही सत्य नहीं होता। कोई भी ज्ञान उपलब्धि तभी तक सत्य है जब तक उसे असत्य सिद्ध नहीं कर दिया जाता। रज्जु में सर्प की भ्रांति होती है। स्वामी दयानन्द इस भ्रांति का कारण अविद्या अथवा अज्ञान बताते हैं जो इन्द्रिय और संस्कारों के दोषों के कारण उत्पन्न होता है। रज्जु में सर्प की भ्रांति अविद्या से है परन्तु अविद्या किससे है? यह स्वयं क्या है? यह एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। स्वामी शंकराचार्य इसे अनिर्वचनीय कहते हैं। परन्तु स्वामी दयानन्द के अनुसार अविद्या कोई अनिर्वचनीय तत्त्व नहीं है जिसे सतासत् दोनों भी कहा जाए और नहीं भी। अविद्या या अज्ञान जिससे मिथ्या उपलब्धि होती है, जीव की अल्पज्ञता से उत्पन्न होती है अल्पज्ञता ही अविद्या का स्त्रोत है।

8. ज्ञाता की सत्ता

प्रमाणों से ज्ञेय पदार्थ का ज्ञान प्राप्त करने वाला ज्ञाता कहा जाता है। ज्ञाता के बिना ज्ञान सम्भव नहीं है इसलिए ज्ञाता का अस्तित्व मानना पड़ता है। यह ज्ञाता आत्मा है। स्वामी दयानन्द कहते हैं "मनुष्य का आत्मा सत्यासत्य को जानने वाला है, तथापि अपने प्रयोजन की सिद्धि, हठ, दुराग्रह और अविद्यादि दोषों से सत्य को छोड़ असत्य में झुक जाता है।"[1] यहां आत्मा जानने वाला है। वह सत्य को जानता है और असत्य को भी। असत्य ज्ञान का अभाव नहीं बल्कि गलत ज्ञान है। असत्य को जानने वाला भी एक जानकार है।

---

1. स्वामी दयानन्द, सत्यार्थ प्रकाश, भूमिका, पृष्ठ 2

ज्ञाता के बिना ज्ञान संभव नहीं है। हमें किसी वस्तु का ज्ञान हो या न हो परन्तु दोनों ही स्थिति में "अहम्" जो ज्ञाता है वह रहता ही है। डेकार्ट की यह उक्ति "मैं सोचता हूँ इसलिए मैं हूँ" आत्मा (ज्ञाता) की सत्ता सिद्ध करती है कि ज्ञान क्रिया के पीछे कोई ज्ञाता है। क्योंकि यदि मैं सोचने वाला नहीं हूँ तब विचार क्रिया ही नहीं हो सकती। लेकिन डेकार्ट की यह उक्ति विचारक्रिया की ही स्थिति में ज्ञाता की सिद्धि कर सकती है। अन्य स्थितियों में या निद्रा की स्थिति में जब चिन्तन कार्य बंद हो जाता है तब क्या ज्ञाता का अस्तित्व समाप्त हो जाता है? ऐसा नहीं है। ज्ञाता का अस्तित्व तब भी रहता है इसलिए डेकार्ट की उक्ति "मैं सोचता हूँ इसलिए मैं हूँ" के स्थान पर "मैं हूँ इसलिए मैं सोचता हूँ" होना चाहिए।

स्वामी दयानन्द कहते हैं "जब जीव शरीर से पृथक होता जाता है तब शरीर में ज्ञान कुछ भी नहीं रहता। जिसके संयोग से चेतनता वियोग से जड़ता होती है वह देह से पृथक है।"[1] अतः निश्चय ही ज्ञाता की सत्ता है। स्वामी दयानन्द एक और बात पर जोर देते हैं कि ज्ञाता सदैव ज्ञाता ही रहता है ज्ञेय कभी नहीं होता। "जैसे आँख सबको देखती है परन्तु अपने को नहीं इसी प्रकार प्रत्यक्ष का करने वाला अपने को ऐन्द्रिय प्रत्यक्ष नहीं कर सकता।"[2]

---

1. सत्यार्थ प्रकाश, द्वादशसमुल्लास, पृष्ठ 276

2. सत्यार्थ प्रकाश, द्वादशसमुल्लास, पृष्ठ 276

ह्युम आत्मा को ज्ञेय रूप में जानना चाहते थे। लेकिन इसको ज्ञेय रूप में नहीं जाना जा सकता। इसीलिए कांट आत्मा को अज्ञेय कहते हैं।

आत्मा (ज्ञाता) का अस्तित्व स्वयंसिद्ध और ज्ञान प्राप्ति में अवश्यम्भावी है। आत्मा के ज्ञान को स्वामी शंकराचार्य स्वयं ज्योति कहते हैं जैसे लैम्प को देखने के लिए हम लोगों को दूसरे लैम्प की आवश्यकता नहीं होती या सूरज को देखने के लिए दूसरे सूरज की आवश्यकता नहीं होती उसी तरह आत्मा या स्वयं के लिए दूसरे प्रमाण की आवश्यकता नहीं होती।

१· ज्ञेय

"जो प्रमाणों से जाना जाता है, जैसे आँख का प्रमेय रूप अर्थ है, जो कि इन्द्रियों से प्रतीत होता है, उसको प्रमेय कहते हैं।"[1] विश्व की प्रत्येक वस्तु प्रमाण का विषय है, अतः ज्ञेय है। क्या ज्ञाता के ज्ञान में ही ज्ञेय का अस्तित्व है, या ज्ञेय ज्ञाता से स्वतन्त्र है? यह प्रश्न बहुत महत्त्वपूर्ण है प्रत्ययवादियों का कहना है कि ज्ञेय ज्ञाता पर निर्भर करता है, ज्ञाता से पृथक किसी ज्ञेय पदार्थ का अस्तित्व नहीं होता। इसके विपरीत यथार्थ वादी कहते हैं कि ज्ञेय ज्ञाता से स्वतन्त्र है। ज्ञाता के साथ-साथ ज्ञेय की भी सत्ता है अन्यथा बिना ज्ञेय के ज्ञान किसका? ज्ञान ज्ञेय के बिना नहीं होता। स्वामी दयानन्द इस मत का समर्थन करते हैं। वे प्रत्ययवाद का पूरी तरह से खंडन करते हैं। प्रत्ययवादियों का कहना है कि सांसारिक पदार्थ अन्तरस्थ या आत्मा में है। विज्ञानवादी बौद्ध बाह्य

1· आर्योद्देश्य रत्नमाला, 85

शून्य मानते हैं। उनका कथन है पदार्थ भीतर ज्ञान में भासते हैं बाहर नहीं। स्वामी दयानन्द विज्ञानवादी बौद्धों का निराकरण करते हुए तर्क देते हैं कि "जो योगाचार बाह्य शून्यत्व मानता है तो पर्वत इसके भीतर होना चाहिए और जो कहे कि पर्वत भीतर है तो उसके हृदय में पर्वत के समान अवकाश कहाँ? इसलिए पर्वत बाहर है और पर्वत ज्ञान आत्मा में है।"[1]

संसार का अस्तित्व किसी भी रूप में हम पर आश्रित नहीं है। स्वामी दयानन्द कहते हैं कि "प्रत्यक्ष का विषय बाहर होता है तदाकार ज्ञान आत्मा को होता है।"[2] यदि विज्ञानवादी यह कहें कि स्वप्न के समान पदार्थों का निर्माण हो सकता है तो दयानन्द कहते हैं कि स्वप्न में विभिन्न संस्कारों का मिश्रण हो जाता है जो दृष्ट या श्रुत वस्तु के ही होते हैं। "स्वप्न बिना देखे सुने कभी नहीं आता, जो जागृत अर्थात् वर्तमान समय में सत्य पदार्थ हैं उनके साक्षात् संबंध से प्रत्यक्षादि ज्ञान होने पर संस्कार अर्थात् उनका वासना रूप ज्ञान आत्मा में स्थित होता है, स्वप्न में उन्हीं को प्रत्यक्ष देखता है। सुषुप्ति होने से बाह्य पदार्थों के अभाव में भी बाह्य पदार्थ विद्यमान रहते हैं।"[3] इस प्रकार जागृत के संस्कारों पर ही स्वप्न की सत्ता निर्भर है। क्योंकि "जो संस्कारों के बिना स्वप्न होवे तो जन्मान्ध को भी रूप का स्वप्न होवे लेकिन जन्मान्ध को रूप का स्वप्न नहीं आता। इससे यही सिद्ध होता है कि जागृत का संसार आत्मस्थ नहीं वरन् ज्ञेय रूप में ज्ञाता से पृथक है। स्वामी दयानन्द कहते हैं कि "शून्य को शून्य नहीं जान सकता इसलिए शून्य का ज्ञाता और ज्ञेय

1· सत्यार्थ प्रकाश, द्वादशसमुल्लास, पृष्ठ 28।
2· वही,
3· स्वामी दयानन्द, सत्यार्थ प्रकाश, अष्टमसमुल्लास, पृष्ठ 146

दो पदार्थ सिद्ध होते हैं।"[1]

स्वामी शंकराचार्य भी मूलत: प्रत्ययवादी हैं। उनके अनुसार जगत् समस्त पदार्थ मिथ्या कल्पना होने से अविद्यामात्र है एवं ज्ञान और ज्ञेय का व्यापार मिथ्या है। जिस प्रकार स्वप्न के पदार्थों का जाग्रत में बाध हो है उसी प्रकार जाग्रत के पदार्थों का तुरीय में बाध हो जाता है। इस प्र जाग्रत का संसार एक बड़ा भ्रम है। लेकिन स्वामी दयानन्द के अनुसार स्व के समान भ्रम में भी पूर्व संस्कार आवश्यक हैं। इससे यही सिद्ध होता है कि ज्ञेयरूप जगत् सत् है। इसकी सत्ता ज्ञाता के ज्ञान पर आश्रित नहीं है।

10· ज्ञान का उद्देश्य

मनुष्य सदा दुख से निवृत्ति और आनन्द की प्राप्ति चाहता है आनन्द की प्राप्ति ही मनुष्य का लक्ष्य समझा गया है जो मोक्ष प्राप्ति द संभव है। ज्ञान मोक्ष प्राप्ति का साधन है। मुक्ति, मोक्ष, नि:श्रेयस, अपव या अमरता को प्राप्त करने के लिए ज्ञान अत्यावश्यक है। "पवित्र कर्म, पवित्रोपासना और पवित्र ज्ञान ही से मुक्ति और अपवित्र मिथ्याभाषणादि कर्म पाषाणमूर्त्यादि की उपासना और मिथ्या ज्ञान से बंध होता है।"[2] ज्ञान कर्म और उपासना इन तीनों के समुच्चय से मुक्ति की प्राप्ति होती "मुक्ति शब्द का अर्थ छूटना है। यहां प्रश्न होता है, किससे छूटना? उत्त स्पष्ट है कि दुख अर्थात् बंधन से छूटना मुक्ति है। जहां बंधन नहीं, वहां

1· सत्यार्थ प्रकाश, द्वादशसमुल्लास, पृष्ठ 281

2· स्वामी दयानन्द, सत्यार्थप्रकाश, नवमसमुल्लास, पृष्ठ 158

भी नहीं। जीवात्मा बद्ध है इसलिए इसको मुक्ति की आवश्यकता है। ईश्वर सदा मुक्त है अर्थात् बंधन से पृथक है, इसलिए उसको मुक्तस्वभाव कहते हैं। का अधिकारी होना बड़ा ही कठिन काम है। मुक्ति की दशा में नित्य सुख का अनुभव होता है।"[1] सभी भारतीय दर्शन इस स्थिति की प्राप्ति का साधन तत्वज्ञान को स्वीकार करते हैं। दयानन्द के विचार में सच्चा ज्ञान वही है जो जीवन का सही मार्ग दर्शन करे।

ईश्वर का प्रत्यक्ष अनुभव केवल योग के अभ्यास से हो सकता है। अनुभव ज्ञान और सही मार्ग दर्शन से हो सकता है। यह सम्पूर्ण विश्व ईश्वर की अभिव्यक्ति है। जो विश्व के प्रत्येक पदार्थ में ईश्वर का अनुभव करता है। वह परम आनन्द को प्राप्त करता है। स्वामी जी मुक्ति को केवल आभावात्मक अर्थात् दुखरहित ही नहीं मानते अपितु वे उसे भावात्मक रूप देते हैं। और आनन्द की प्राप्ति उसका अपरिहार्य अंग स्वीकार करते हैं। उनकी दृष्टि में यह आनन्द भी ज्ञान की सहज प्राप्ति है। ज्ञान और आनन्द एक दूसरे से जुड़े हुए हैं। "जितना ज्ञान अधिक होता है उतना ही आनन्द अधिक होता है। मुक्ति में जीवात्मा निर्मल होने से पूर्ण ज्ञानी होकर उसको सब सन्निहित का भान ही नहीं होता अपितु वह अपने अस्तित्व को बनाये हुए ब्रहम में अव्याहत गति से विचरण करता है। विज्ञान आनन्दपूर्वक स्वतंत्र विचरता है।"[2]

1· महर्षि दयानन्द के सर्वश्रेष्ठ भाषण, पृष्ठ ।।9

2· स्वामी दयानन्द, सत्यार्थ प्रकाश, नवमसमुल्लास, पृष्ठ ।7।

इस प्रकार स्वामी दयानन्द मोक्ष को मनुष्य का अंतिम लक्ष्य स्वीकार करते हैं। तत्वज्ञान ही मोक्ष प्राप्ति का साधन है। तत्वज्ञानान्नि: श्रेयसम् (वैशे० 1/1/4) तत्वज्ञानान्निश्रेयसाधिगम: (न्याय 1/1/1) त्रिविध दु:खात्म-न्तर्निवृति: परमपुरुषार्थ (सां० 1/1/1) इत्यादि से इसी बात की पुष्टि होती है

अध्याय- V

दयानन्द और षड्दर्शन समन्वय

1· भारतीय षड्दर्शन

भारतीय दर्शनों में प्रत्येक की एक विशिष्ट परम्परा है। प्रत्येक दर्शन परम प्राप्तव्य को प्राप्त करने के लिए एक विशिष्ट मार्ग का निर्देशन करता है। सूक्ष्म दृष्टि से समालोचना करने पर सभी दर्शनों का सामंजस्य और समन्वय एक परम लक्ष्य की प्राप्ति में ही हो जाता है और वह लक्ष्य है- निरतिशय दुख की निवृति और निरतिशय सुख की प्राप्ति। भारतीय दर्शन की प्राय: सभी शाखाओं में इसी समानता के दर्शन होते हैं।

मुख्यत: भारतीय दर्शन को दो भागों में वर्गीकृत किया गया है- 1· वैदिक दर्शन 2· अवैदिक दर्शन । वैदिक दर्शन संख्या में छ: है- सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक और पूर्व मीमांसा तथा वेदांत। ये भारत की दार्शनिक परम्परा के मूर्धन्य शास्त्र हैं। इनके रचयिता क्रमश: कपिल, पतन्जलि, गौतम, कणाद, जैमिनी और बादरायण थे। इन दर्शनों में प्रतिपाद्य विषयों की विभिन्नता होते हुए भी ये सभी वेद प्रमाण को मुक्त कंठ से स्वीकार करते हैं और उसे ईश्वरीय ज्ञान भी मानते हैं। जो दर्शन वेदों को स्वत: प्रमाण मानते हैं वे आस्तिक दर्शन कहलाते हैं तथा जो वेद की निन्दा करते हैं वह नास्तिक हैं।[1] उपरोक्त छयों दर्शन वेदों को स्वत: प्रमाण मानते हैं अत: यह आस्तिक हैं। वेद को मानने वाले

1· "नास्तिको वेदनिन्दक:।" मनु0 2/11

ये छह दर्शन "षड्दर्शन" के नाम से प्रसिद्ध हैं।

इनमें सांख्य और योग प्रसिद्ध प्राचीन वैदिक दर्शन हैं। सांख्य दर्शन द्वैतवादी है। सांख्य दर्शन का मुख्य आधार सत्कार्यवाद है। इसके अनुसार कार्य वास्तविक रूप से कारण में विद्यमान रहता है। यह संसार कार्य कारणों का प्रवाह है। संसार का मूलभूत सूक्ष्म कारण प्रकृति है। सांख्य दो तत्वों को मानता है- पुरुष और प्रकृति। पुरुष चेतन है, नित्य है। पुरुष शरीर, मन तथा इन्द्रिय से भिन्न है। यह भोक्ता है और प्रकृति भोग्य है। प्रकृति के तीन गुण सत्व, रज तथा तम हैं। पुरुष तथा प्रकृति के संयोग से सृष्टि का प्रारम्भ होता है। सांख्य 25 तत्वों को मानता है। इनमें पुरुष को छोड़कर सभी तत्व प्रकृति के अन्तर्गत है क्योंकि सभी भौतिक तत्वों का मूल कारण प्रकृति ही है।

योग सांख्य के प्रमाणों और तत्वों को मानता है। यह सांख्य के 25 तत्वों के साथ-साथ ईश्वर को भी मानता है। योग तथा सांख्य में बहुत अधिक साम्य है। सांख्य के अनुसार मोक्ष प्राप्ति का प्रमुख साधन विवेक ज्ञान है और विवेक ज्ञान की प्राप्ति प्रधानत: योगाभ्यास से ही हो सकती है। योगाभ्यास के आठ अंग है जो योगांग कहलाते हैं। वे हैं-यम, नियम, आसन, प्राणायम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान तथा समाधि। योग दर्शन को सेश्वर-सांख्य कहते हैं।

इसी प्रकार न्याय और वैशेषिक में बड़ी समानता है। न्यायदर्शन एक प्रकार से वैशेषिक सिद्धांत की ही विस्तृत व्याख्या है। न्याय वस्तुवादी दर्शन है। इसके अनुसार चार प्रमाण हैं- प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द तथा उपमान। अन्यान भारतीय दर्शनों की तरह न्याय का भी लक्ष्य आत्मा को शरीर, इंन्द्रियों तथा सांसारिक विषयों के बंधन से मुक्त करना है।

वैशेषिक का भी उद्देश्य प्राणियों को अपवर्ग प्राप्त कराना है। यह सभी प्रमेयों को अर्थात् संसार की सभी वस्तुओं को कुल सात पदार्थों में विभक्त करता है। वे पदार्थ हैं- द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय तथा अभाव। इसके अनुसार संसार के सभी कार्यद्रव्य चार प्रकार के परमाणुओं से बनते हैं। इसलिए वैशेषिक मत को परमाणुवाद भी कहते हैं। ईश्वर तथा मोक्ष के विषय में वैशेषिक तथा न्याय मतों में पूरा साम्य है।

मीमांसा तथा वेदांत ये दोनों दर्शन भी वास्तव में एक ही ग्रंथ के दो भाग कहे जा सकते हैं। ये क्रमशः वैदिक कर्मकांड तथा वैदिक ज्ञानकांड के नाम से विदित हैं। मीमांसा में कर्मकांड का युक्तिपूर्वक प्रतिपादन हुआ है। वेदांत में ज्ञानकांड का पूरा विवेचन किया गया है। चूंकि मीमांसा और वेदांत में वैदिक विचारों की मीमांसा हुई है इसलिए दोनों को कभी-कभी मीमांसा कहते हैं। मीमांसा को पूर्व मीमांसा तथा वेदांत को उत्तर मीमांसा कहते हैं।

इस प्रकार षड्दर्शनों में सांख्य -योग, न्याय-वैशेषिक तथा मीमांसा वेदांत की युग्म पद्धति है। इन शास्त्रों में पृथक-पृथक विषयों का प्रतिपादन अवश्य किया गया है, परन्तु इससे यह अनुमान लगाना अनुचित होगा कि ये दर्शन एक दूसरे का खण्डन या विरोध करते हैं। यूरोपीय विद्वान तथा भारतीय विचारक इन दर्शनों को परस्पर विरोधी मानते हैं। उनके अनुसार इन छयों, दर्शनों में परस्पर विरोध है यथा वैशेषिक के परमाणुवाद का सांख्य के गुणवाद से विरोध है, सांख्य नास्तिक दर्शन है आदि-आदि। दर्शनों में विरोध की इसी भावना को शंकराचार्य जी ने वेदांत दर्शन पर किये अपने भाष्य में विशद् रूप में लिखा है। उन्होंने अपने ब्रह्म सूत्र भाष्य में सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक,

मीमांसा आदि सभी दर्शनों का खण्डन किया और उन्हें अवैदिक सिद्ध किया। दर्शनों में विरोध के सिद्धांत को रामानुज भी मानते हैं। दर्शनों को परस्पर विरोधी मानने के परिणामस्वरूप एक ऐसी विकृत परम्परा उत्पन्न हो गई जिसके कारण षड्दर्शनों का समन्वयात्मक स्वरूप लुप्त हो गया और लोग साधारणतः इन दर्शन शास्त्रों को परस्पर विरोधी समझने लगे।

लेकिन वैदिक षड्दर्शन एक दूसरे के विरोधी न होकर एक दूसरे के पूरक हैं। इनमें पृथक-पृथक विषयों का विवेचन है और इनका समग्र अध्ययन वैदिक तत्व दर्शन की समन्वित रूपरेखा प्रस्तुत करता है। षड्दर्शनों की समन्वयात्मक व्याख्या के लिए निम्न प्रश्नों का समाधान करना होगा-

1. क्या सांख्य दर्शन में ईश्वर की सत्ता को स्वीकार किया गया है।

2. न्याय में समर्थित असतकार्यवाद और सांख्य प्रोक्त सत्कार्यवाद का सामंजस्य कैसे स्थापित किया जा सकता है।

3. कुमारिल भट्ट और प्रभाकर आदि मीमांसकों ने मीमांसा दर्शन को अनीश्वरवादी माना जबकि दयानन्द सरस्वती इसे आस्तिक और ईश्वरवादी मानते हैं।

4. सांख्य में प्रकृति को जगत का उपादान माना है जबकि वैशेषिक परमाणु को उपादान कहता है इसमें समन्वय कैसे स्थापित किया जा सकता है?

ऐसे अनेक प्रश्न है जिनसे षड्दर्शनों में विरोध प्रतीत होता है लेकिन उनमें वास्तविक विरोध नहीं है। यह ऋषि दयानन्द के ग्रन्थों से भी स्पष्ट है। दयानन्द की दृढ़ मान्यता है कि षड्दर्शनों में आपस में विरोध नहीं है बल्कि इनमें से प्रत्येक सत्य के भिन्न-भिन्न पहलुओं की व्याख्या करता है। यह प्रवृति दयानन्द के बाद आज अनेक विद्वानों में भी पाई जाती है।

2· प्रमाण विषयक विप्रतिपत्तियां

भारतीय दर्शनकारों में प्रमाण के विषय में मतभेद देखा जाता है। दार्शनिक विवेचना की मूलभित्ति प्रमाण विमर्श पर ही स्थिर है। यथार्थ ज्ञान की प्राप्ति के साधन को ही प्रमाण कहा गया है।[1] यथार्थ ज्ञान की प्राप्ति के लिये कौन-कौन से साधन सर्वाधिक उपयुक्त हैं? सभी दार्शनिकों ने इस प्रश्न पर अत्यन्त गम्भीरता के साथ विचार किया है।

प्रमाण विमर्श का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण तथा विवादास्पद विषय प्रमाणों की संख्या का निर्धारण है। वैशेषिक दर्शन में यद्यपि प्रमाणों की संख्या का स्पष्ट निर्देश नहीं है किन्तु शंकर मिश्र की सूत्र व्याख्या से यह ज्ञात होता है कि प्रत्यक्ष तथा अनुमान ये दो ही प्रमाण उन्हें अभिमत हैं। वैशेषिक के अन्य व्याख्याकारों ने भी दो ही प्रमाण स्वीकार किये हैं।[2]

सांख्य तथा योग में केवल तीन ही प्रमाण हैं- प्रत्यक्ष, अनुमान तथा शब्द।[3] इनके अनुसार संसार के समस्त विषयों का ज्ञान इन्हीं तीन प्रमाणों के द्वारा हो जाता है।

नैयायिक प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान तथा शब्द इन चार प्रमाणों को मानते हैं। न्यायसूत्र में भी इन चार प्रमाणों का स्पष्ट उल्लेख है।[4]

1· न्याय भाष्य, 1/1/1

2· प्रशस्तपादभाष्य, पृष्ठ 246

3· सांख्य कारिका 4, योग सूत्र 1/7

4· न्याय सूत्र, 1/1/3

मीमांसा में शब्द प्रमाण पर अधिक विचार किया गया है किन्तु प्रभाकर ने प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द, उपमान तथा अर्थापत्ति को प्रमाण माना है और कुमारिल अनुपलब्धि को भी प्रमाण मानते हैं। वेदांती भी प्रत्यक्ष, अनुमान एवं शब्द के अतिरिक्त उपमान, अर्थापत्ति और अनुपलब्धि इन छह प्रमाणों को मानते हैं। वेदांत परिभाषाकार ने इन छह प्रमाणों का स्पष्ट निर्देश किया है।[1]

इन दार्शनिकों का तो प्रमाणों की निश्चित संख्या के निर्धारण के विषय में ही मतभेद है किन्तु शंकराचार्य प्रमाण मात्र को ही अस्वीकार करते हैं। शंकर ने प्रत्यक्ष आदि समस्त प्रमाणों का खण्डन किया है। वेदान्त भाष्य के प्रारम्भ में ही शंकर ने प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों को अविद्यावत् घोषित किया है।[2] शंकर समस्त प्रमाणजन्य ज्ञान पशुओं के तुल्य बताते हैं। बादरायण के कतिपय सूत्रों की व्याख्या के प्रसंग में उन्होंने श्रुति तथा स्मृति का क्रमशः प्रत्यक्ष तथा अनुमान अर्थ करते हुए इनका अप्रामाण्य प्रतिपादित किया है।[3]

किन्तु शंकर के प्रमाणखण्डन के विषय में विचार करते हुए यह ध्यान रखना चाहिए कि कहीं-कहीं स्वयं शंकर ने प्रमाणों का प्रामाण्य स्वीकार किया है। वेदान्त भाष्य में उन्होंने ज्ञान को प्रमाणों से उत्पन्न बताया है तथा ब्रह्म

---

1. वेदान्त परिभाषा, पृष्ठ 33
2. ब्र० सू० शां०भा०, 1/1/1 तथा पाल डायसन-वेदांत दर्शन, पृ०89
3. वही, 1/3/28, 2/2/24

की उपादान-कारणता की सिद्धि के लिए अनेकत्र प्रत्यक्ष तथा उपमान का प्रयोग किया है।[1]

शंकर के अनुसार "परमार्थावस्थायां सर्वव्यवहाराभावं वदन्ति वेदान्ताः सर्वे" परमार्थ अवस्था में समस्त व्यवहारों का अभाव हो जाता है, अतः प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों की सत्ता लौकिक सत्य के रूप में ही स्वीकार्य है परमार्थ अवस्था में नहीं। इस प्रकार शंकर के मत में परम सत्ता लौकिक प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों की पहुंच से बाहर है किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि वे लौकिक व्यवहार में भी प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों का निषेध करते हैं।

इस प्रकार प्रमाण संख्या के विषय में ही दार्शनिकों में मतभेद प्रतीत होता है जैसे कोई दो प्रमाण मानते हैं, कोई तीन और कोई चार। किन्तु विचार करने पर यह विरोध प्रतिभासिक ही सिद्ध होता है क्योंकि प्रमेय की सत्यता में प्रायः सब लोगों का एक मत है। इसमें किसी प्रकार को कोई विवाद नहीं। तार्किक लोग जिस ईश्वर या परलोक का साधन तर्क के द्वारा करते हैं उसे सब दर्शनकारों ने स्वीकृत किया है। प्रत्यक्ष आदि चार प्रमाण मानने वाले नैयायिक या छह प्रमाण मानने वाले वेदांती जिस ईश्वर या परलोक को शब्द प्रमाण से सिद्ध करते हैं उसको प्रत्यक्ष और शब्द दो ही प्रमाण मानने वाले माध्व और प्रत्यक्ष तथा अनुमान दो ही प्रमाण मानने वाले वैशेषिक भी स्वीकार करते हैं। भेद केवल इतना ही है वैशेषिकों का कहना है कि इनकी सिद्धि अनुमान से होती है शब्द से नहीं। और जैसे अर्थापत्ति प्रमाण को मानने वाले मीमांसक "पीनोऽयं देवदत्तः दिवा न भुङ्क्ते" यहां रात्रि भोजन रूप अर्थ को अर्थापत्ति

---

1. "ज्ञानं तु प्रमाणजन्यम्" -ब्र० सू० शांकर भाष्य, 1/4/4

प्रमाण से सिद्ध करते हैं उसी प्रकार अर्थापत्ति को प्रमाण न मानने वाले वैशेषिक और नैयायिक भी उसी रात्रि-भोजन-रूप अर्थ को अनुमान से सिद्ध करते हैं।

और भी, जिस प्रकार अनुपलब्धि प्रमाण मानने वाले वेदांती अनुपलब्धि से घटाभाव का साधन कहते हैं, उसी प्रकार अनुपलब्धि को प्रमाण नहीं मानने वाले नैयायिक आदि भी उसी घटाभाव को प्रत्यक्ष प्रमाण का प्रमेय समझते हैं। इस प्रकार प्रमाणों की संख्या में ही परस्पर विवाद देखा जाता है। प्रमेय-रूप अर्थ की सत्यता में किसी प्रकार का कोई विवाद नहीं है।

3· परमाणुवाद और प्रकृतिवाद का समन्वय

न्याय और वैशेषिक का सिद्धांत परमाणुवाद है। उन्होंने अनुमान के बल से जगत के मूल कारण परमाणु को स्थिर किया है। प्रत्येक अवयव विशिष्ट पदार्थ का अन्तिम अविभाज्य अवयव परमाणु है। उनके अनुसार परमाणु प्रकृति का सूक्ष्मतम अंश है। इनका और विभाजन नहीं किया जा सकता। विभाजन की अन्तिम सीमा परमाणु है।[1] परन्तु परमाणु का भी कोई कारण है यह बात इनके अनुमान में नहीं आई। उन्होंने प्रकृति में परमाणु की सूक्ष्मता तक ही विचार किया।

लेकिन सांख्य और योग ने अनुमान से ही परमाणु के भी कारण त्रिगुणात्मक प्रकृति को खोज निकाला। प्रकृति तीन गुणों से युक्त है।[2] ये तीन गुण हैं- सत्व, रजस तथा तमस। सत्व, रजस तथा तमस् क्रमशः प्रीति, अप्रीति

1· "परं वा त्रुटेः" न्याय सू0, 4/2/17

2· सांख्य कारिका, 11

तथा विषादात्मक हैं।[1] यह गुण विरोधी होते हुए भी परस्पर सहयोग से सृष्टि उत्पत्ति के प्रयोजन को सिद्ध करते हैं। अव्यक्तावस्था में प्रकृति के यह तीनों गुण साम्यावस्था में रहते हैं। साम्यावस्था भंग होने पर ये तीनों गुण न्यूनाधिक अवस्था में होते हुए समस्त सृष्टि का निर्माण करते हैं। इसे प्रकृति की व्यक्तावस्था अथवा विकार कहा जाता है। इस प्रकार सांख्य प्रकृति की अत्यन्त सूक्ष्म अवस्था सत्व, रज व तम तक पहुँच गया। यहाँ तक नैयायिकों और वैशेषिकों की पहुंच नहीं हो पाई। वे प्रकृति की परमाणु अवस्था तक ही रहे। लेकिन इससे इनका आपस में विरोध नहीं है।

स्वामी दयानन्द के अनुसार भी वैशेषिक के परमाणु वाद व सांख्य के प्रकृतिवाद में कोई विरोध नहीं है। वे सांख्यों की सत्व, रज व तम की साम्यावस्था रूप प्रकृति को नैयायिकों के परमाणु से अधिक सूक्ष्म मानते थे। उनका कहना है "अनादि नित्य स्वरूप सत्व, रजस और तमोगुण की एकावस्था रूप प्रकृति से उत्पन्न जो परम सूक्ष्म पृथक-पृथक तत्वावयव विद्यमान हैं उन्हीं का प्रथम ही जो संयोग का आरम्भ है, संयोग विशेषों से अवस्थान्तर दूसरी अवस्था को सूक्ष्म स्थूल-स्थूल बनते बनाते विचित्र रूप बनी है इसी से यह संसर्ग होने से सृष्टि कहलाती है।"[2] अर्थात् सर्वप्रथम सत्व, रज व तमोगुण की साम्यावस्था रूप

---

1. सांख्य कारिका, 12
2. "नित्याया: सत्वरजस्तमसां साम्यावस्थाया: प्रकृतेरुत्पन्नानां परमसूक्ष्माणां पृथक-पृथग्वर्त्तमानानां तत्वपरमाणुनां प्रथम: संयोगारम्भ: संयोगविशेषादवस्थान्तरस्य स्थूलाकारप्राप्ति: सृष्टिरुच्यते ।"
   सत्यार्थ प्रकाश, अष्टमसमुल्लास, पृष्ठ 149

प्रकृति थी तत्पश्चात् तन्मात्राओं से पहले अथवा तन्मात्राओं के रूप में परमाणु उत्पन्न हुए। परमाणुओं की उत्पत्ति के पश्चात् की सृष्टि उत्पत्ति सांख्यों ने लगभग न्यायवैशेषिक के अनुसार मानी है।

स्वामी दयानन्द के अनुसार सृष्टि के भिन्न-भिन्न छह अवयवों का शास्त्रों में प्रतिपादन करने से इनमें कुछ भी विरोध नहीं है। जैसे घड़े के बनाने में कर्म, समय, मिट्टी, विचार, संयोग वियोगादि का पुरुषार्थ, प्रकृति के गुण और कुम्हार कारण हैं वैसे ही सृष्टि का जो कर्म कारण है उसकी व्याख्या मीमांसा में, समय की व्याख्या वैशेषिक में, उपादान कारण की व्याख्या न्याय में, पुरुषार्थ की व्याख्या योग में, तत्त्वों के अनुक्रम से परिगणन की व्याख्या सांख्य में और निमित कारण जो परमेश्वर है उसकी व्याख्या वेदान्त शास्त्र में है। इसमें कुछ भी विरोध नहीं है।[1] इस प्रकार विषय और प्रतिपादन की दृष्टि से विभिन्न होने पर भी उन्हें परस्पर विरोधी मानने का कोई कारण नहीं। विरोध तो एक ही विषय पर मतभेद होने के कारण होता है। परन्तु इन दर्शनों का मुख्य प्रतिपाद्य विषय अपना अलग-अलग है।

इस प्रकार स्वामी दयानन्द वैशेषिक के परमाणुवाद व सांख्य के प्रकृतिवाद में विरोध नहीं मानते। उनके अनुसार इनमें स्तर का भेद है। जैसे न्याय, वैशेषिक सृष्टि के स्थूल स्तर का विवेचन प्रस्तुत करते हैं। जबकि सांख्य अतिसूक्ष्म पूर्णमूलभूत स्तर तक विवरण देता है। स्वामी ओमानन्द के अनुसार भी "जहां

---

1. सत्यार्थ प्रकाश, तृतीय समुल्लास, पृष्ठ 47

से न्याय-वैशेषिक ने स्थूल सृष्टि का क्रम दिखाया है वहीं से सांख्य मूल जड़तत्व की खोज में सूक्ष्मतर एवं सूक्ष्मतम सृष्टि के क्रम की ओर गया है। जिस जड़तत्व के अन्तर्गत विभु और अणु दोनों प्रकार के जड़पदार्थ हैं वह सबसे प्रथम जड़तत्व तीन गुण हैं सत्व, रजस और तमस्।"[1]

सांख्य गुणों को स्वयं प्रकृति मानता है। सांख्य के गुण परमाणुओं के धर्म नहीं बल्कि परमाणुओं के आदि कारण हैं। परमाणु गुणों के कार्य हैं और गुण प्रकृति की अत्यन्त सूक्ष्म अवस्था है। इस प्रकार सृष्टि उत्पत्ति में सांख्य ने न्याय से अधिक सूक्ष्म विचार किया है। स्वामी दयानन्द के अनुसार यहां विषय की स्थूलता और सूक्षमता का प्रश्न है। इससे इनका आपस में विरोध नहीं है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि स्वामी दयानन्द परमाणुवाद तथा प्रकृतिवाद में विरोध नहीं मानते।

4. सत्कार्यवाद और असत्कार्यवाद में भेदाभेद

सांख्य दर्शन मानता है कि प्रत्येक कार्य का कोई उपादान कारण है, उसका भी कोई अन्य कारण है, इस प्रकार की कारण परम्परा जगत् में पायी जाती है किन्तु इस परम्परा का कहीं न कहीं पर्यवसान अवश्य है। त्रिगुणमयी प्रकृति में इस कार्य-कारण परम्परा की परिसमाप्ति है, अत: मूल प्रकृति निष्कारण है। सबका कारण होते हुए वह नित्य है, क्योंकि वह किसी अन्य

---

1. ओमानन्द तीर्थ, पातंजल योग प्रदीप, पृष्ठ 98

कारण से उत्पन्न नहीं हुई, इसलिए उसका लय भी किसी कारण में नहीं होगा।[1]

इस प्रकार सांख्य की प्रकृति अनादि एवं अनन्त है। यह सम्पूर्ण दृश्यमान जगत् प्रकृति का ही परिणाम है। प्रकृति समस्त जड़ पदार्थों का आदि कारण है। सांख्य दर्शन सत्यकार्यवाद के सिद्धान्त को मानता है जिसके अनुसार कारण में कार्य अव्यक्तावस्था में विद्यमान रहता है। यही व्यक्त होने पर कार्य कहा जाता है अर्थात् कार्य अपनी अभिव्यक्ति से पूर्व भी कारण में विद्यमान रहता है। इसी सिद्धान्त को सत्यकार्यवाद कहते हैं।

परन्तु न्याय, वैशेषिक सत्कार्यवाद के सिद्धान्त को नहीं मानते, वे असत्कार्यवाद के पोषक हैं। असत्कार्यवाद के अनुसार कारण में कार्य पूर्व ही विद्यमान नहीं होता वरन् बीज का उपमर्दन कर एक नये पदार्थ अंकुर की उत्पत्ति होती है, अर्थात् एक नया पदार्थ पैदा होता है जो पहले न था। इस पर सांख्य विद्वानों का कहना है कि यदि कार्य को पूर्व ही अपने कारण में विद्यमान न माना जाए तो अभाव से भाव की उत्पत्ति माननी पड़ेगी। इससे नैयायिकों का उपादान कारण का सिद्धान्त खंडित हो जायेगा क्योंकि यदि अभाव से भाव की उत्पत्ति मानी जाये तो उपादान कारण की क्या आवश्यकता है क्योंकि शून्य से सब पदार्थों की उत्पत्ति मानी जा सकती है।

परन्तु न्याय पर इस प्रकार का आरोप मिथ्या है। यह आरोप

---

1. "मूले मूलाभावाद् मूलं मूलम्" "पारम्पर्येऽप्येकत्रपरिनिष्ठेति संज्ञामात्रम्" सांख्य सूत्र, 1/67/68

न्याय शास्त्र के सूत्र के आधार पर लगाया जाता है। सूत्र है- "अभावाद् भावोत्पत्तिर्नानुपमृद्य प्रादुर्भावात्:[1] अर्थात् "नाश हुये बिना उत्पत्ति न होने से अभाव से भाव की उत्पत्ति होती है।" इससे स्पष्ट रूप से असत्कार्यवाद की ही पुष्टि होती है। परन्तु स्वामी दयानन्द इस सूत्र को पूर्वपक्षी का सूत्र बताते हैं और इसके उत्तर में कहते हैं कि "जो बीज का उपमर्दन करता है वह प्रथम ही बीज में था जो न होता तो उत्पन्न कभी न होता।[2] वात्स्यायन मुनि भी इसे पूर्वपक्षी का ही सूत्र मानते हैं। स्वयं न्यायशास्त्र भी अभाव से भाव की उत्पत्ति को असंगत मानता हुआ अगले ही सूत्र में कहता है - "व्याघाताद् प्रयोग।" इससे स्पष्ट है कि न्याय दर्शन का असत्कार्यवाद से यह तात्पर्य नहीं है कि कार्य सर्वथा एक नवीन वस्तु है तथा उत्पत्ति से पूर्व कारण में उसका सर्वथा अभाव था। न्यायशास्त्र अभाव से भाव की उत्पत्ति के सिद्धान्त को नहीं मानता। डा० राधाकृष्णन् के अनुसार- "न्यायिक यह तो मानता है कि पूर्व के पूर्ण विनाश से नवीन पदार्थ की उत्पति असम्भव है परन्तु इसे खुलकर कहने को तैयार नहीं होता। इससे यही मालूम पड़ता है कि न्यायशास्त्र के अनुसार द्रव्य अपनी पूर्वावस्था का परित्याग मात्र करता है।"[3]

---

1. न्याय04-1-14
2. स्वामी दयानन्द, सत्यार्थ प्रकाश, अष्टमसमुल्लास, पृष्ठ 145
3. "The Naiyayika concedes that a complete destruction of the previous substances will make the formation of the new impossible. It follows that the substance only relinquishe its former condition though the Naiyayika is not inclined to accept it openly". Indian Philosophy, Vol.2, P.97 Dr.S.Radhakrishnan.

वैशेषिक दर्शन पर भी असत्कार्यवाद का आरोप लगाया जाता है। परन्तु वैशेषिक दर्शन असत्कार्यवाद का प्रतिपादन नहीं करता है। वैशेषिक दर्शन के सूत्र "क्रियागुणव्यपदेशाऽभावात् प्रागसत्"[1] अर्थात् क्रिया व गुण का अभाव पाये जाने से अभाव था। इससे वैशेषिक का तात्पर्य यह है कि जब वस्तु की उत्पत्ति ही नहीं हुई तब उसके कार्य व गुणों का अभाव होगा। जैसे घट से पूर्व घट के क्रिया व गुण नहीं थे, मिट्टी के थे। मिट्टी से घट की उत्पत्ति हुई इस प्रकार घट मृतिका में ही था परन्तु व्यक्त होने से नया बना माना गया। वैशेषिक मानता है कि कारण के गुण कार्य के गुण में आ जाते हैं।[2] कारण में कार्य समवाय रूप से है ऐसा वैशेषिक मानता है।[3]

इस प्रकार सत्कार्यवाद व असत्कार्यवाद में कोई विरोध नहीं है। न्याय वैशेषिक द्वारा कार्य का कारण में असत् कहने का तात्पर्य कारणावस्था में कार्यरूप का अभाव होने से है। दोनों ही कारण से कार्य की उत्पत्ति मानते हैं तथा कारण के अभाव में कार्य का अभाव मानते हैं।

5· द्वैत-अद्वैत सिद्धांत में अविरोध

जड़तत्त्व तथा चेतनतत्त्व के संबंध में द्वैत-अद्वैतवादियों में काफी मतभेद प्रतीत होता है। अद्वैतवादी जड़तत्त्व की सत्ता परमात्म तत्त्व से भिन्न नहीं

1· वैशेषिक सूत्र, 9-1-1

2· "कारणगुणपूर्वक: कार्यगुणो दृष्ट: । वैशेषिक सूत्र 2/1/24

3· "कारणमिति द्रव्ये, कार्य समवायात् । "वैशेषिक सूत्र 10/2/1

मानते उसी में आरोपित मानते हैं जैसे रस्सी में साँप और सीप में चांदी की सत्ता आरोपित है वास्तविक नहीं। परन्तु द्वैतवादी जड़ प्रकृति को स्वतन्त्र तत्व "प्रकृति" नाम से मानते हैं। मुक्ति की अवस्था में इसका नाश केवल मुक्ति वालों के लिये होता है। जो मुक्ति की अवस्था को प्राप्त नहीं हुए हैं उनके लिए यह बनी रहती है।

सांख्य-योग की मूल प्रकृति त्रिगुणात्मक है। सारा सूक्ष्म और स्थूल संसार सत्व, रज और तम इन्हीं तीनों गुणों का परिणाम है। इस प्रकार द्वैतवादी जड़तत्व को जगत का उपादान कारण मानते हैं। परन्तु शंकर चेतन-तत्त्व को ही जगत का अभिन्न निमत्तोपादान कारण मानते हैं। लेकिन प्रश्न उठता है कि ब्रह्म स्वयं अपरिणामी और निर्विकार रहते हुए इस संसार की सृष्टि कैसे करता है? इसलिए शंकर को ब्रह्म के साथ एक अनादि तत्व माया अर्थात् अविद्या को स्वीकार करना पड़ा जिसके द्वारा ब्रह्म संसार की सृष्टि कर सकता है। यह माया अनिर्वचनीय है। अनिर्वचनीय अथवा सत् और असत् दोनों से विलक्षण कह देना केवल शब्दों का ही रूपान्तर है। इस प्रकार शंकर की त्रिगुणात्मक माया अर्थात् अविद्या सांख्य की त्रिगुणात्मक प्रकृति है। इस प्रकार सिद्धांतों में मतभेद होते हुए जड़तत्व का आत्मतत्व से संयोग हटाना दोनों ही का अंतिम ध्येय है।

अद्वैतवादी मोक्ष की अवस्था में आत्मतत्व और परमात्मतत्व की भिन्नता नहीं मानते। मुक्ति की अवस्था में आत्मतत्व परमात्म तत्व में जो इसका ही अपना वास्तविक स्वरूप है अवस्थित रहता है। द्वैतवादी आत्मतत्व और परमात्मतत्व में परस्पर सजातीय भेद मानते हैं। आत्मतत्व और परमात्म तत्व

यद्यपि जड़तत्व के सदृश्य भिन्न नहीं है किन्तु एकजातीय होते हुए भी अपनी-अपनी अलग सत्ता रखते हैं। मुक्ति की अवस्था में आत्मा परमात्मा को प्राप्त होकर उसके सदृश्य दुखों को त्याग कर ज्ञान और आनन्द को प्राप्त होता है। इस प्रकार द्वैत और अद्वैतवादी दोनों ही दुख की अत्यन्त निवृति को अंतिम लक्ष्य मानते हैं। वह स्वरूपस्थिति ब्रहम सदृश होना हो अथवा ब्रहमरूप होना हो यह केवल शब्दों का ही उलट फेर है।

इस प्रकार सांख्य योग के द्वैतवाद और शंकर के निर्विशेष अद्वैतवाद में अंतिम लक्ष्य की प्राप्ति में कोई वास्तविक अन्तर नहीं है।

6· सांख्य और ईश्वरवाद

सांख्य दर्शन को अनीश्वरवादी माना जाता है। इस दर्शन के रचयिता महर्षि कपिल पर कई विद्वानों ने नास्तिकता का आरोप लगाया है। उनके विचार में सांख्य ने प्रधान यानि मूल प्रकृति को जगत का स्वतन्त्र कारण माना है, ईश्वर का वर्णन नहीं किया है। इससे विद्वान सांख्य को अनीश्वरवादी मानते है। हिरियन्ना के अनुसार सांख्य में प्रकृति की धारणा इस बात में बहुत उन्नत है कि उसे शरीर की तरह ही एक स्वत: विकासशील सत्ता माना गया है ऐसी सत्ता को कोई बाहरी आवश्यकता नहीं है। यही बात सांख्य के निरीश्वरवाद के मूल में है।[1]

1· एम0 हिरियन्ना, भारतीय दर्शन की रूपरेखा, पृष्ठ 279

इसके अतिरिक्त सांख्यसूत्र के कुछ स्थलों के आधार पर सांख्य को निरीश्वरवादी कहा जाता है। यद्यपि सांख्यकारिका में ईश्वर के अस्तित्व अथवा अनस्तित्व के विषय में कुछ भी नहीं कहा गया है। "ईश्वरासिद्धेः"[1] इस सूत्र के आधार पर सांख्य पर अनीश्वरवादी होने का दोष लगाया जाता है। विद्वानों का आक्षेप है कि इस सूत्र में ईश्वर की असिद्धि स्पष्ट रूप से प्रतिपादित की गई है तथा "प्रमाणाभावान्न तत्सिद्धिः" कहकर भी ईश्वर का खण्डन किया गया है। किन्तु इन तथा अन्य सूत्रों पर विचार करने के बाद यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि यहां ईश्वर का खण्डन सांख्य सूत्रकार को अभिप्रेत है। यह सूत्र (ईश्वरासिद्धेः) प्रत्यक्ष प्रमाण के प्रसंग में आया है। प्रत्यक्ष का लक्षण किया है कि इन्द्रियों का विषय से सम्पर्क होने पर जब बुद्धि विषयाकार हो जाती है तब वह प्रत्यक्ष प्रमाण कहलाता है।[2] इस लक्षण में यह दोष आता है कि योगियों को जो योगजशक्ति के द्वारा प्रत्यक्ष होता है उसमें विषय के साथ इन्द्रियों का सम्बन्ध नहीं होता। अतः उक्त प्रत्यक्ष लक्षण के अन्तर्गत योगज प्रत्यक्ष समाहित नहीं होता। इस आशंका का उत्तर अगले सूत्रों में दिया गया है कि यह लक्षण लौकिक प्रत्यक्ष का किया गया है, योगियों का प्रत्यक्ष बाह्य प्रत्यक्ष नहीं होता, उनका प्रत्यक्ष आन्तरिक होने से प्रत्यक्षलक्षण की सीमा में नहीं आता।[3] योगियों को जो ईश्वर का प्रत्यक्ष होता

---

1. सांख्य सूत्र, 1/92

2. सांख्य सूत्र, 1/89 "यत् सम्बद्धं सत् तदाकारोल्लेखि विज्ञानं तत्प्रत्यक्षम् ।"

3. "योगिनामबाह्य प्रत्यक्षत्वान्न दोषः" सांख्य सूत्र, 1/90

है वह इन्द्रियों द्वारा नहीं होता किन्तु वह आन्तरिक प्रत्यक्ष होता है। यदि यह न माना जाये तो ईश्वर की सिद्धि नहीं हो सकेगी। इस प्रकार यह सूत्र ईश्वर के अस्तित्व के अभाव को नहीं बतलाता किन्तु इससे यह बात सिद्ध होती है कि सामान्य प्रत्यक्ष के द्वारा ईश्वर की सिद्धि नहीं होती क्योंकि प्रत्यक्ष में इन्द्रिय सन्निकर्ष अनिवार्य है, किन्तु ईश्वर इन्द्रियों से नहीं जाना जाता अतः प्रत्यक्ष प्रमाण से ईश्वर की सिद्धि नहीं होती।

इसके अतिरिक्त यहां ईश्वर के अस्तित्व का नहीं अपितु ईश्वर के उपादान का खण्डन किया है। स्वामी दयानन्द के अनुसार भी यहां ईश्वर की सिद्धि में प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं है और न जगत का उपादान कारण है।[1] जगत के उपादान भूत ईश्वर को सिद्ध नहीं किया जा सकता क्योंकि जगत का उपादा प्रकृति है। ईश्वर जगत का उपादान नहीं हो सकता है क्योंकि सम्पूर्ण दृश्य जगत अचेतन है, अचेतन किसी भी प्रकार चेतन का परिणाम नहीं हो सकता अतः उपादान भूत ईश्वर की सिद्धि नहीं हो सकती। यदि यह कहें कि प्रकृति जगत का उपादान नहीं है अपितु ईश्वर की सत्तामात्र से ही सम्पूर्ण जगत की उत्पत्ति हो जाती है तो ऐसी स्थिति में सम्पूर्ण जगत् ऐश्वर्ययुक्त होना चाहिए, क्योंकि उपादान कारण के गुण कार्य में स्वभावतः आ जाते हैं तो जगत में भी ईश्वर के गुण होने चाहिए किन्तु ऐसा नहीं है। अतः ईश्वर की उपादान कारणता

---

1. सत्यार्थ प्रकाश, सप्तमसमुल्लास, पृष्ठ 125

की सिद्धि प्रत्यक्ष प्रमाण से नहीं होती।[1] प्रत्यक्ष प्रमाण के न होने से किसी सम्बन्ध का ग्रहण नहीं हो सकता अतः अनुमान से भी ईश्वर के उपादानत्व की सिद्धि नहीं होती।[2] श्रुति के प्रमाण से भी यही सिद्ध होता है कि यह जगत प्रधान का ही कार्य है वही इस जगत का उपादान कारण है।[3] इस प्रकार सांख्य में जहाँ-जहाँ ईश्वर का खण्डन प्रतीत होता है, वहाँ ईश्वर के अस्तित्व का नहीं अपितु ईश्वर के उपादानकारणत्व का खण्डन किया गया है।

सांख्य शास्त्र कर्मफल के सिद्धांत को मानता है, किन्तु कर्म अपना फल स्वयं नहीं दे सकते क्योंकि कर्म जड़ हैं अतः ऐसी शक्ति को मानना पड़ेगा जो कर्मफल प्रदान करने वाली हो। यदि ईश्वर फलप्रदाता है तो वह कर्मों का फल किस प्रकार देता है। यदि स्वार्थभाव से देता है तो उसमें राग, द्वेष आदि भी निश्चित होंगे तथा यदि परार्थभाव से देता है तो फिर संसार इतना दुखपूर्ण क्यों है? इसके उत्तर में कहते हैं कि जगत में प्रत्येक कार्य का कारण निश्चित है, प्रत्येक पदार्थ अपने कारण से ही निर्मित होता है, इसी प्रकार सुख दुख आदि का कारण भी प्रत्येक प्राणी के अपने कर्म है। उन कर्मों के अनुसार ही ईश्वर फलप्रदान करता है, अतः उसमें रागादि दोषों की उद्भावना नहीं होती। रागादि के बिना ही उसकी सिद्धि है, प्रत्येक कार्य का प्रतिनियत कारण होने से।[4] ईश्वर

---

1. प्रमाणाभावान्न तत्सिद्धिः सांख्य सूत्र 5/10
2. सम्बन्धाभावान्नानुमानम्, सांख्य सू0 5/11
3. श्रुतिरपि प्रधानकार्यत्वस्य, सांख्य सू0 5/12
4. सांख्यसूत्र, 5/6

जगत का अधिष्ठाता है, उपादान कारण नहीं प्रकृति जगत का उपादान कारण है। किन्तु उसकी प्रवृत्ति स्वत: नहीं होती क्योंकि वह परतन्त्र है।[1] ईश्वर के अधिष्ठातृत्व से उसकी प्रवृत्ति होती है।

सांख्य में प्रकृति को परतन्त्र बताया गया है।[2] प्रश्न है कि प्रकृति यदि परवश है तो किसके वश में है? यदि पुरुष के वश में है तो पुरुष अनेक हैं, वे किस प्रकार एक साथ मिलकर प्रकृति को कार्य के लिए तत्पर करते हैं। फिर पुरुष चेतन है, प्रकृति जड़ है, पुरुष क्यों बन्धन में पड़ना चाहेगा? यदि प्रकृति पुरुषों के वश में है तो फिर वे क्यों जन्म मरण के कुचक्र में फंस जाते हैं? हिरियन्ना लिखते हैं- "प्रलय की अवस्था में प्रकृति के तीन गुण साम्यावस्था में रहते हैं। सर्ग के आरम्भ में यह अवस्था समाप्त हो जाती है तथा विजातीय परिणाम प्रारम्भ होता है। इस परिवर्तन को पुरुष के सान्निध्यमात्र से होने वाला कहा गया है। पुरुष के सान्निध्य का ठीक अर्थ समझने में अनेक पुरुषों को मानने से कठिनाई आती है। सान्निध्य एक पुरुष का विवक्षित है या सब पुरुषों का।"[3] सांख्य को अनीश्वरवादी मानने पर इस समस्या का कोई भी समाधान नहीं हो सकता। इसलिये मानना पड़ता है कि प्रकृति ईश्वर के वश में है वह सर्ववित् तथा

---

1. सांख्य सूत्र, 1/18
2. अकार्यत्वेऽपि तद्योग: पारवश्यात्, सांख्य सूत्र, 3/55 तथा 1/18
3. एम0 हिरियन्ना, भारतीय दर्शन की रूपरेखा, पृष्ठ 274

सर्वकर्ता है।[1] जिसके अधीन प्रकृति ज्ञान, व्यवस्था और नियम पूर्वक पुरुष के अपवर्ग के लिए प्रवृत हो रही है। इस प्रकार ईश्वर की सिद्धि होती है।[2]

सांख्य में समाधि, सुषुप्ति तथा मोक्ष अवस्था में पुरुष की ब्रह्मरूपता बतायी जाती है।[3] ब्रह्मरूपता कहने से यही सिद्ध होता है कि ब्रह्म कोई अलग तत्व है, जिससे पुरुष की तद्रूपता कही गयी है। विज्ञानभिक्षु इस सूत्र के भाष्य में कहते हैं कि "इन अवस्थाओं में पुरुष अपने स्वरूप में स्थित हो जाता है, इस शास्त्र में "ब्रह्म" शब्द मालिन्यरहित परिपूर्ण चेतनतत्त्व का वाचक है।"[4] किन्तु सांख्य में ब्रह्म की ऐसी व्याख्या कहां पर की गई है? यदि ब्रह्म शब्द का यहां पर यही अर्थ हो तो भी "रूपता" कहने की क्या आवश्यकता है? इसके अतिरिक्त यदि सांख्यसूत्रकार को पुरुष का अपने स्वरूप में ही अवस्थान बताना अभीष्ट होता तो यहां ब्रह्म शब्द का प्रयोग ही क्यों करता? ब्रह्मरूपता कहने से यही प्रतीत होता है कि ब्रह्म एक पृथक तत्व है। समाधि, सुषुप्ति तथा मोक्ष अवस्था में पुरुष की ब्रह्मरूपता हो जाती है। समाधि सुषुप्ति व मोक्ष में जीव अपने में ब्रह्म के आनन्दादि गुणों को धारण कर लेता है। वह स्वयं ब्रह्म नहीं हो जाता, अपितु ब्रह्मरूप हो जाता है।

सांख्य ने वेदों को अपौरुषेय ईश्वरीय ज्ञान और आप्त प्रमाण माना

---

1. स हि सर्ववित् सर्वकर्ता, सांख्य सूत्र, 3/56
2. ईदृशेश्वरसिद्धि: सिद्धा, वही, 3/57
3. समाधिसुषुप्तिमोक्षेषु ब्रह्मरूपता, वही, 5/116
4. सांख्य प्रवचन भाष्य, 5/116

है। वेदों को बनाने वाला कोई पुरुष नहीं है इसलिए वेद पौरुषेय नहीं हैं।[1] मुक्त और अमुक्त (बद्ध) पुरुष दोनों ही वेद की रचना का सामर्थ्य नहीं रखते अतः वेद अपौरुषेय हैं।[2] किन्तु यदि वेद पौरुषेय नहीं हैं तो उनकी उत्पत्ति कैसी हुई? वेदों को स्वतः उत्पन्न मानने में यह कठिनाई है कि बिना कारण के कार्य की उत्पत्ति नहीं हो सकती। वेद भी कार्य हैं क्योंकि उनकी उत्पत्ति हुई है अतः उनका कोई कारण होना चाहिए। वेद सदा से विद्यमान हैं ऐसा भी नहीं माना जा सकता क्योंकि सांख्य ने वेद के नित्यत्व का निराकरण कर दिया है।[3] इससे यही सिद्ध होता है कि वेद ईश्वरकृत हैं। सांख्य ने वेदों को स्वतः प्रमाण निर्विवाद रूप से स्वीकार किया है। सांख्यकार कहते हैं कि वेद परमात्मा की शक्ति से उत्पन्न हुए हैं अतः स्वतः प्रामाण है।[4] स्वतः प्रामाण का तात्पर्य है कि वेद की प्रामाणिकता स्वतः सिद्ध है उसके लिए किसी प्रमाण की आवश्यकता नहीं है। ऐसा निर्भ्रान्त ज्ञान सर्वज्ञ परमात्मा का ही हो सकता है। इसके अतिरिक्त वेद में स्थान-स्थान पर ईश्वर का वर्णन है तो फिर वेद का स्वतः प्रामाण्य स्वीकार करते हुए ईश्वर की सत्ता का अपलाप किस प्रकार किया जा सकता है।

---

1. न पौरुषेयत्वं तत्कर्तुः पुरुषस्याभावात्, सांख्य सूत्र, 5/46
2. न मुक्तामुक्तयोरयोग्यत्वात्, सांख्य सूत्र, 5/47
3. न नित्यत्वं वेदानां कार्यत्वश्रुतेः, वही 5/45,48
4. निजशक्त्यभिव्यक्तेः स्वतः प्रामाण्यम्, वही 5/51

स्वामी शंकराचार्य जी सांख्यों को अनीश्वरवादी मानते हैं। उन्होंने वेदान्त सूत्रों पर लिखे भाष्य में सांख्यों की आलोचना उनके नास्तिक होने पर की है। इसमें शंकराचार्य जी को सबसे अधिक सहायता सांख्यकारिका से मिली। ईश्वरकृष्ण की सांख्यकारिका ऊपर से देखने पर अनीश्वरवादी प्रतीत होती है। शंकराचार्य जी ने सांख्यकारिका के ईश्वर के प्रति उदासीन भाव का लाभ उठाया और इस प्रकार सांख्यों को अनीश्वरवादी सिद्ध किया।

लेकिन यदि कपिल मुनि नास्तिक होते तो श्वेताश्वतरादि उपनिषद् तथा गीता में उनकी इतनी प्रशंसा नहीं की जाती। श्वेताश्वतरोपनिषद् में महर्षि कपिल को परमात्मा द्वारा ज्ञान दिया जाना बताया है। उपनिषद् कहता है "परमात्मा पहिले उत्पन्न हुए कपिल मुनि को ज्ञान से भर देता है।"[1] महर्षि कपिल के अगाद-ज्ञान के कारण ही कपिल को परमर्षि की उपाधि दी गयी।[2]

इसके अतिरिक्त श्रीमद्भागवत के तीसरे स्कन्ध में जहाँ भगवान कपिल ने अपनी माता को आध्यात्मिक उपदेश दिया है वहां उनको स्वयं ईश्वर का अवतार माना गया है। कृष्ण ने भी अपनी समानता कपिल मुनि से की है। गीता के अनुच्छेद 10·26 में कृष्ण अपनी विभूतियों को बताते हुए कहते हैं "सिद्धानां कपिलो मुनिः" अर्थात् सिद्धों में मैं कपिल मुनि हूँ। यदि कपिल अनीश्वरवादी होते तो श्री कृष्ण अपनी तुलना कपिल मुनि से क्यों करते? इससे

1· ऋषिं प्रसूतं कपिलं यस्तमग्रे ज्ञानैर्बिभर्ति, श्वेता0 उपनिषद्, 5-2

2· सांख्यस्यवक्ता कपिलः परमर्षिः स उच्यते, महाभारत, 12·349·65

सिद्ध होता है कि कपिल मुनि अनीश्वरवादी न थे वरन् वैदिक महर्षियों की श्रेणी में अग्रणी थे।

सांख्याचार्य कपिल और उनके दर्शन पर अनीश्वरवादी होने का जो आरोप लगाया जाता है उसका खंडन करते हुए ऋषि दयानन्द लिखते हैं "जो कोई कपिलाचार्य को अनीश्वरवादी कहता है जानो वही अनीश्वरवादी है; कपिलाचार्य नहीं।[1] वे सांख्य को एक ईश्वरवादी शास्त्र के रूप में स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार सांख्य में ईश्वर का वर्णन जगत के निमित्त कारण, कर्मफल प्रदाता, वेदों के आदि स्त्रोत के रूप में पाया जाता है। यदि सांख्य ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करता तो वह वैदिक दर्शनों में क्यों गिना जाता?

उपर्युक्त तथ्यों को दृष्टि में रखते हुए यह मानना होगा कि यदि सांख्य को ईश्वरवादी नहीं कहा जा सकता तो उसे अनीश्वरवादी कहना भी यथार्थ नहीं।

7· मीमांसा दर्शन में निरीश्वरवाद का विवेचन

मीमांसा को भी अनीश्वरवादी कहा जाता है। यह सत्य है कि मीमांसा के कुछ व्याख्याकारों ने अनीश्वरवाद का प्रतिपादन किया है, किन्तु स्वयं मीमांसा भी अनीश्वरवादी है ऐसा निश्चयात्मक रूप से नहीं कहा जा सकता। मीमांसा का वेद ही प्राण है, उसमें वेद का प्रामाण्य प्रतिपादित किया गया है। वेद का प्रामाण्य सिद्ध करते हुए यह विश्वास करना कठिन प्रतीत

1· स्वामी दयानन्द, सत्यार्थ प्रकाश, सप्तमसमुल्लास, पृष्ठ 125

होता है कि मीमांसा ईश्वर को नहीं मानती है। मैक्समूलर[1] का कहना है कि मीमांसकों ने सृष्टिकर्ता के विरुद्ध जो युक्तियाँ दी है, उनसे यही सिद्ध होता है कि यदि ईश्वर को सृष्टि कर्ता मान लिया जाए तो उन पर क्रूरता, पक्षपात आदि के दोष आरोपित हो जाते हैं। परन्तु सृष्टिकर्ता के रूप में ईश्वर को नहीं मानने का अर्थ निरीश्वरवाद नहीं है। एक तर्क यह भी दिया जाता है कि यदि जैमिनि ने ईश्वर को सृष्टा मानने से निषेध किया होता तो बादरायण ने निश्चित रूप से इसका खण्डन अपने ग्रन्थ के दूसरे अध्याय में किया होता, जो प्रतिपक्षियों की कल्पनाओं की आलोचना के लिए ही रखा गया था।[2] कुमारिल का कथन है कि "यह शास्त्र जो कि वेद नाम से पुकारा जाता है, जो शब्द रूपी ब्रह्म है, वह एक परमात्मा द्वारा अधिष्ठित है।"[3]

मीमांसा प्राणियों के सुख दुख का कारण अपूर्व को मानती है। इससे भी उस पर ईश्वर खंडन का आरोप लगाया जाता है लेकिन यह उचित नहीं है क्योंकि यदि ईश्वर को सुख दुख आदि का फलप्रदाता मान लिया जाए तो वह क्रूरता, पक्षपात आदि के दोषों से नहीं बच सकता। इसलिए मीमांसा प्राणियों के भिन्न-भिन्न सुख दुख का कारण उनके पूर्व आचरण को बताता है। अपूर्व को

---

1. The Six systems of Indian Philosophy, Chap. V.
2. डा० राधाकृष्णन, भारतीय दर्शन, भाग2, पृष्ठ 419-21।
3. शब्दब्रह्मेति यच्चेदं शास्त्रं वेदाख्यमुच्यते।
   तदप्यधिष्ठितं सर्वमेकेन परमात्मना।-तन्त्रवार्तिक, पृष्ठ 719

फलप्रदाता कहे जाने से यह नहीं समझना चाहिए कि ईश्वर का खण्डन कर दिया गया है। यदि अपूर्व को जगत का सृष्टा भी कह दिया जाए तब भी इससे ईश्वर का खण्डन नहीं होता क्योंकि जगत की सृष्टि भी जीवों के कर्मानुसार ही हुई है अर्थात् सृष्टि का कारण कर्म ही है, यदि जीवों के कर्म न होते तो सृष्टि रचना का क्या उद्देश्य कहा जा सकता था? कर्म तथा फल के बीच कोई संस्कार न हो तो फल की उत्पत्ति किस प्रकार होगी। यह तभी सम्भव है जब कर्मातिशय अर्थात् अदृष्ट की सत्ता मानी जाए।[1] वेदान्त भी कर्माशय को स्वीकार करते हुए यह मानता है कि ईश्वर कर्म विधान अथवा अपूर्व के अनुसार ही कार्य करता है।[2] तो जब वेदांत आदि ईश्वरवादी दर्शन भी कर्म के संस्कार की स्थिति को स्वीकार करते हैं तथा कर्मफल का कारण उसी को मानते हैं तो क्या यह कहना उचित होगा कि उन्होंने ईश्वर का खंडन कर दिया है? यदि नहीं तो मीमांसा के लिए भी ऐसा कहना उचित नहीं है। अत: अपूर्व की स्थापना से ईश्वर को पदच्युत कर दिया गया है, ऐसा मानना युक्तियुक्त नहीं ।

मीमांसा का मुख्य विषय वैदिक कर्मकाण्ड की व्याख्या है। इसलिये जैमिनि ने उसमें कर्मकाण्ड का ही निरूपण किया है। ईश्वर के विस्तार पूर्वक वर्णन की जो उत्तर मीमांसा का विषय है अपने दर्शन में आवश्यकता नहीं समझी। इससे उन पर अनीश्वरवादी होने की शंका की जाती है। लेकिन अनेक व्यास

---

1. न्याय कुसुमांजलि, 1/9

2. कर्मापेक्षाद् अपूर्वापेक्षाद् वा यथास्तु तथास्तु ईश्वरात् फलम्।
   ब्रह्म सूत्र शांकरभाष्य, 3/2/41

सूत्रों से जैमिनी जी का ईश्वरवादी होना सिद्ध होता है।[1]

इसके अतिरिक्त मीमांसा तथा ब्रहमसूत्र जिनको क्रमशः पूर्वमीमांसा तथा उत्तरमीमांसा कहा जाता है, इनको प्राचीन समय में एक शास्त्र ही माना जाता रहा है। इसके अनेक प्रमाण उपलब्ध होते हैं। प्रपंच हृदय के उपांग प्रकरण में कहा गया है- मीमांसाशास्त्र बीस अध्यायों में निबद्ध है। पूर्वमीमांसा 16 अध्यायों में है यह धर्मविचार परक तथा जैमिनि कृत है। 4 अध्यायों में निबद्ध उत्तरमीमांसा व्यासकृत तथा ब्रहमविचारपरक है।[2] सेश्वर - मीमांसा में वेङ्कटनाथ कहते हैं कि "अथातो धर्मजिज्ञासा" से लेकर "अनावृत्तिशब्दादनावृत्तिशब्दात्" तक विंशत्यध्यायात्मक एकशास्त्र है।[3] रामानुज भी श्री भाष्य का प्रारम्भ करते हुए कहते हैं कि- कर्म तथा ब्रहममीमांसा का एकशास्त्रत्व कहेंगे। यह शारीरिक शास्त्र जैमिनीय षोडशाध्यायात्मक शास्त्र के साथ मिलकर एक शास्त्र है।[4]

इस प्रकार पूर्वमीमांसा तथा उत्तरमीमांसा को एकशास्त्र मानने पर यह कहना कठिन हो जाता है कि पूर्वमीमांसा का लक्ष्य ईश्वर का खण्डन करना

---

1. साक्षादप्यविरोधं जैमिनिः ।। वेदान्त द0 1/2/28
2. तदिदं विंशत्यध्यायनिबद्धम् । यत्र षोडशाध्यायनिबद्धं पूर्वमीमांसाशास्त्र पूर्वकाण्डस्य धर्मविचारपरायणं जैमिनिकृतम् । तदन्यदध्यायचतुष्कम्, उत्तरमीमांसाशास्त्रम् उत्तरकाण्डस्य ब्रहमविचारपरायणं व्यासकृतम् । प्रपंचहृदय, पृष्ठ 38,39
3. अथातो धर्मजिज्ञासा इत्यारभ्य, अनावृत्तिशब्दादनावृत्तिशब्दात्, इत्येवमन्तं विंशतिलक्षणमेकं शास्त्रम् ।- सेश्वरमीमांसा, 1/1/1
4. श्री भाष्य, 1/1/1

रहा होगा। मीमांसा के किसी सूत्र में ईश्वर का खण्डन उपलब्ध नहीं होता। अनीश्वरवाद मीमांसकों का मत हो सकता है- मीमांसा का नहीं। मीमांसा ईश्वर के सम्बन्ध में मौन है इससे उसे अनीश्वरवादी नहीं माना जा सकता।

8· स्वामी दयानन्द के अनुसार षड्दर्शन समन्वय

वैदिक षड्दर्शनों के सम्बन्ध में विद्वानों की यह धारणा है कि उनमें परस्पर प्रबल विरोध है। एक दर्शन सम्प्रदाय में दूसरे दर्शन सम्प्रदाय के प्रतिपाद्य तत्वों का प्रतिषेध किया गया है। प्रकटत: यही सत्य प्रतीत होता है कि इन सभी दर्शनों में पारस्परिक विरोध है किन्तु इस पारस्परिक विरोध के पीछे दृष्टि डालने से समस्त वैदिक दर्शनों में अन्तर्निहित समरूपता के दर्शन होते हैं। प्रतिपाद्य विषय के अनुसार प्रत्येक दर्शन की अर्थ प्रतिपादन की प्रक्रिया व पद्धति में कुछ भेद हो सकता है। परन्तु ऐसा भेद विरोध मूलक नहीं होता। जैसे प्रमाणों का संख्याभेद, पदार्थ निर्देश का भेद आदि।

ऋषि दयानन्द को ही इस बात का श्रेय दिया जाना चाहिए कि उन्होंने सर्वप्रथम षड्दर्शनों का समन्वययात्मक रूप लोगों के समक्ष प्रस्तुत किया। उन्होंने यह बल पूर्वक प्रतिपादित किया कि इन दर्शनों की रचना उच्च कोटि के प्रतिभाशाली और मेधावी ऋषियों के द्वारा हुई है जिन्होंने समाधि अवस्था में ईश्वर साक्षात्कार किया था और जिन्हें समस्त भौतिक और आध्यात्मिक विद्यायें हस्तामलकवत् थी। ऋषियों के ग्रन्थों में परस्पर विरोध कुछ भी नहीं होता यह उनका दृढ विश्वास था। दूसरी बात यह है कि समस्त दर्शनकार एक मत होकर वेद को प्रमाणभूत ग्रन्थ स्वीकार करते हैं। अब यदि वे परस्पर

विरुद्ध मत का प्रतिपादन करें तो उनका वेद को प्रामाणिक मानना कोई महत्त्व नहीं रखता। इसलिये स्वामी दयानन्द ने अपने ग्रन्थों में स्थान-स्थान पर षड्दर्शनों के समन्वयात्मक रूप का प्रतिपादन करने का प्रयत्न किया है।

यद्यपि उन्होंने विस्तृत विवेचन नहीं किया है किन्तु इन छ: दर्शनों में पारस्परिक विरोध की सम्भावना को सर्वथा अस्वीकृत करते हुए सृष्टि उत्पत्ति विषयक विचार को उदाहरण रूप में प्रस्तुत किया है। यहां भी षड्दर्शन समन्वय के महत्त्वपूर्ण कर्तव्य से वे च्युत नहीं हुए हैं। उनका कथन है "छह शास्त्रों में अविरोध इस प्रकार है। मीमांसा में- ऐसा कोई भी कार्य जगत में नहीं होता कि जिसके बनाने में "कर्म" चेष्टा न की जाए, वैशेषिक में - समय न लगे बिना बने ही नहीं। न्याय में- उपादान कारण न होने से कुछ भी नहीं बन सकता । योग में-विद्या, ज्ञान, विचार न किया जाय तो नहीं बन सकता। सांख्य में तत्वों का मेल न होने से नहीं बन सकता और वेदान्त में -बनाने वाला न बनाये तो कोई भी पदार्थ उत्पन्न न हो सके। इसलिये सृष्टि छह कारणों से बनती है। उन छह कारणों की व्याख्या एक-एक की एक-एक शास्त्र में है इसलिये उनमें विरोध कुछ भी नहीं है।"[1]

षड्दर्शनों में प्रतीत होने वाले विरोध का कारण भिन्न-भिन्न दर्शनों की अपनी-अपनी पृथक शब्दावली भी हो सकती है। जैसे न्याय व वैशेषिक आत्मा शब्द से परमात्मा का ग्रहण करते हैं। दयानन्द कहते हैं कि "वैशेषिक और न्याय भी आत्मा शब्द से अनीश्वरवादी नहीं, क्योंकि सर्वज्ञत्वादि

---

1. सत्यार्थ प्रकाश, अष्टमसमुल्लास, पृष्ठ 148

धर्मयुक्त और "अतीत सर्वत्र व्याप्नोतीत्यात्मा" जो सर्वत्र व्यापक और सर्वज्ञादि धर्मयुक्त सब जीवों का आत्मा है उसको मीमांसा, वैशेषिक और न्याय ईश्वर मानते हैं।"[1] इसी प्रकार सांख्य पुरुष शब्द से जीव व ब्रह्म दोनों का ग्रहण करता है इसलिए वह अनीश्वरवादी नहीं है। उन्होंने समस्त वैदिक दर्शनों को ईश्वरवादी सिद्ध कर समान रूप से इनकी वेदानुकूलता को अभिव्यक्त किया। छहों दर्शन वेद को स्वतः प्रमाण मानते हैं अतः वे परस्पर विरोधी नहीं हो सकते।

वस्तुतः षड्दर्शनों में मौलिक विरोध उतना नहीं है जितना स्थापित किया गया है। एक दर्शन प्रणाली में जिन तत्त्वों का प्रतिपादन है, दूसरी दर्शन प्रणाली उससे भिन्न तत्त्वों का प्रतिपादन करती है, प्रतिपाद्य विषय की यह भिन्नता विरोध की द्योतक नहीं है, अपितु ये दर्शनप्रणालियां अपने-अपने प्रतिपाद्य का निरूपण करती हुई एक दूसरे की पूरक है।

ऋषि दयानन्द के उपर्युक्त कथनों से यह स्पष्ट हो जाता है कि वे ऋषियों के मन्तव्यों और सिद्धान्तों में समन्वय दिखाने के लिये प्रबल प्रयत्नशील थे। दार्शनिक क्षेत्र में ऐसे सामंजस्य व समन्वय की भावना का उद्भावना ऋषि की अनन्य देन है।

---

1. सत्यार्थ प्रकाश, सप्तमसमुल्लास, पृष्ठ 125

अध्याय- VI

समाजशास्त्र और राजनीति

1. समाजशास्त्र की परिभाषा

समाजशास्त्र क्या है? इस प्रश्न पर अनेक दार्शनिकों और समाज - शास्त्रियों ने अपने विचार व्यक्त किये हैं। वार्ड के अनुसार " समाजशास्त्र समाज का विज्ञान है।" इस रूप में यह शास्त्र समाज या सामाजिक जीवन का ही अध्ययन करता है। समाज शास्त्र की प्रथम व्यवस्थित और वैज्ञानिक नींव सन् 1838 में अगस्त कॉम्ट ने डाली है। कॉम्ट ने समाजशास्त्रों को सामाजिक व्यवस्था और प्रगति का विज्ञान कहकर परिभाषित किया है। समाजशास्त्र इस प्रकार से एक आधुनिक विज्ञान है। इसी विज्ञान को आगे चलकर जान स्टुअर्ट मिल ने 1843 में इग्लैण्ड में परिचित कराया। श्री हरबर्ट स्पेन्सर ने भी इसी रूप में समाजशास्त्र को परिभाषित किया।

वास्तव में समाजशास्त्र के आधुनिक विकास में संसार के विभिन्न देशों के विद्वानों ने अपना सहयोग दिया है। फ्रांस में सर्वश्री "रूसों" ने भी समाज-शास्त्र का पोषण एवं विकास किया। जर्मन के मैक्स बेबर ने भी समाजशास्त्र को एक विशेष विज्ञान के रूप में स्वीकार किया है। मैक्स वेबर ने समाजशास्त्र को परिभाषित करते हुए लिखा है- "समाजशास्त्र वह विज्ञान है जो कि सामाजिक क्रिया का अर्थपूर्ण बोध करने का प्रयत्न करता है जिससे कि इसकी (सामाजिक क्रिया की) गतिविधि तथा परिणामों की कारण सहित व्याख्या प्रस्तुत की जा सके।"[1] उनका विचार है कि मानव-सम्बन्धों का क्षेत्र बहुत व्यापक है और इस

---

1. मैक्स वेबर, सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था, 1947, पृष्ठ 80

क्षेत्र के अन्तर्गत वे ही क्रियायें सामाजिक व्यवहार होते हैं जिनमें कर्ता के कार्य में दूसरों के व्यवहारों का विवरण मिलता है।

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। इससे कोई भी इन्कार नहीं कर सकता। स्वामी दयानन्द के अनुसार भी मनुष्य को सामाजिक होना चाहिए। अपनी ही उन्नति से संतुष्ट रहने वाला मनुष्य स्वार्थी है। स्वामी दयानन्द व्यक्ति के आपसी व्यवहार के लिए सत्य को आवश्यक समझते थे।

2· समाज और व्यक्ति

मनुष्य की प्रमुख विशेषता उसका सामाजिक होना है। मानव-जीवन के विभिन्न पक्ष- आर्थिक, धार्मिक, राजनैतिक आदि एक दूसरे से सामाजिक संबंधों द्वारा परस्पर जुड़े हुए हैं। मनुष्य का सामाजिक जीवन विभिन्न प्रकार के संबंधों से घिरा हुआ है। वैदिक दार्शनिकों ने मानव जीवन को एक पूर्ण इकाई के रूप में समझा है। उनके अनुसार मनुष्य का परम लक्ष्य कैवल्य या मोक्ष की प्राप्ति है। वेदों के अनुसार -परमात्मा जीवात्मा तथा प्रकृति नित्य हैं अर्थात् ये कभी पैदा नहीं हुए और न कभी इनका अन्त होगा, ये सदा से हैं और सदा रहेंगे। इस विश्व और ब्रह्माण्ड का कर्त्ता केवल एक ईश्वर है। वह सर्वशक्तिमान, निर्विकार, अजन्मा, अनादि, सर्वव्यापक और सर्वज्ञ है। वही सृष्टि का रक्षक है। सच्चा सुख अर्थात् जीवन का परम उद्देश्य जीवन-मरण के झंझट से छूटकर ईश्वर प्राप्ति में हैं। इस कारण मानव-जीवन का ध्येय जीवन मरण से छूटना अर्थात् मोक्ष प्राप्त करना है।

वैदिक समाज शास्त्रियों ने इसी सिद्धांत एवं विचार से प्रेरित होकर समाज व व्यक्ति के आपसी सम्बन्धों का निर्धारण किया है। स्वामी दयानन्द

भी इसी विचारधारा के समर्थक रहे हैं। उनके अनुसार समाज, व्यक्ति और राज्य के सम्बन्ध मानव जीवन के लक्ष्य प्राप्ति में अत्यंत महत्वपूर्ण हैं। स्वामी दयानन्द व्यक्ति और समाज के सम्बन्ध के विषय में कहते हैं कि व्यक्ति को समाज के रूप में ऐसे कार्यों को करना चाहिए जिसमें सबका हित हो लेकिन वैयक्तिक हित की प्राप्ति के लिए भी सब स्वतंत्र हो इसलिए उन्होंने दसवें नियम में कहा कि "सब मनुष्य को सामाजिक सर्वहितकारी नियम पालने में परतंत्र रहना चाहिए और प्रत्येक हितकारी नियम में सब स्वतंत्र रहें।" स्वामी दयानन्द के अनुसार मनुष्य का अधिकांश जीवन समाज के संबंध में बीतता है। इसलिए व्यक्ति को समाज के अन्य व्यक्तियों के साथ धर्मानुसार व्यवहार करना चाहिए।

व्यक्ति और समाज के संबंध पर प्लेटो ने भी अपने विचार व्यक्त किये हैं। उनका कहना है कि व्यक्ति ठीक उसी प्रकार व्यवहार करता है जिस प्रकार से समाज उसे व्यवहार करना सिखाता है। समाज ही व्यक्ति के व्यवहार को ढालता है। प्लेटो के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति में सीखने की क्षमता जन्म से ही अलग-अलग होती है। सब व्यक्ति समान नहीं है। व्यक्तिगत भिन्नता के कारण व्यक्ति हर प्रकार के कार्य नहीं कर सकता इसलिए समाज को प्रत्येक व्यक्ति को उसकी क्षमता के अनुसार कार्य करने देना चाहिए। समाज सबका और सबके लिए है।

प्लेटो के बाद अरस्तू ने भी मानव की सामाजिक प्रकृति के संबंध में अपने विचार व्यक्त किये। उन्होंने कहा कि कोई भी व्यक्ति सम्पूर्ण संसार को अपना कहने से इन्कार कर देगा यदि उसे यह मालूम हो जाय कि उसे

संसार में अकेला ही रहना होगा क्योंकि मनुष्य एक राजनीतिक प्राणी है जो कि स्वभाव से ही दूसरों के साथ रहना पसन्द करता है इस कारण सुखी मनुष्य भी दूसरों के साथ रहता है। मानव व्यवहार के संबंध में अरस्तू का समाज-शास्त्रीय सिद्धान्त प्लेटो के विपरीत था। प्लेटो का मत था मानव व्यवहार उसके समाज की ही उपज है। जबकि अरस्तू के अनुसार समाज की प्रकृति व्यक्ति के स्वभाव पर निर्भर है। मनुष्य के स्वभाव को परिवर्तित नहीं किया जा सकता, इसलिए समाज को भी बदलना संभव नहीं है।

प्राचीन भारत के सामाजिक संगठन का प्रमुख आधार वर्ण व्यवस्था थी। स्वामी दयानन्द ने वर्ण, आश्रम व्यवस्था एवं राज्य के समाज के प्रति कर्तव्यों आदि का व्याख्यान किया है। उनके अनुसार हर व्यक्ति को चाहे वह किसी वर्ण या आश्रम का हो, अपने समस्त कार्यों को धर्म अधर्म और सत्य असत्य का विचार करके करना चाहिए। स्वामी दयानन्द कहते हैं कि समाज में चारों वर्णों को परस्पर प्रीति, उपकार, सज्जनता, सुख दुख हानि लाभ में ऐक्यमत रहकर राज्य और प्रजा की उन्नति में तन मन धन का व्यय करते रहना चाहिए।[1] उनके अनुसार व्यक्ति को केवल अपनी ही उन्नति से संतुष्ट नहीं रहना चाहिए किन्तु सबकी उन्नति में अपनी उन्नति समझनी चाहिए। समाज में रहकर व्यक्ति को समाज के लिए कार्य करना चाहिए लेकिन साथ ही व्यक्ति को अपने वैयक्तिक हित के लिए भी सोचना चाहिए। स्वामी दयानन्द व्यक्ति को अपने वैयक्तित्व का हनन करने को नहीं कहते हैं। उनके अनुसार व्यक्ति को समाज में स्वतन्त्रता प्राप्त होनी चाहिए जिससे वह अपने व्यक्तित्व का विकास कर सके। समाज में केवल शारीरिक व आर्थिक उन्नति ही शामिल नहीं है वरन् आत्मिक उन्नति

---

1. स्वामी दयानन्द, सत्यार्थ प्रकाश, चतुर्थसमुल्लास, पृष्ठ 73

भी है। स्वामी दयानन्द ने व्यक्ति और समाज का संबंध मानव जीवन के अंतिम ध्येय -मोक्ष को ध्यान में रखकर निश्चित किया है। इस प्रकार स्वामी दयानन्द की सामाजिक विचारधारा को आध्यात्मिक समाज की संज्ञा देनी चाहिए।

3. वर्ण निर्धारण का आधार

भारतीय सामाजिक संगठन के परम्परागत आधारों में वर्ण व्यवस्था का महत्वपूर्ण स्थान रहा है। स्वामी दयानन्द ने प्राचीन वैदिक वर्णाश्रम आधार पर समाज का ढांचा पुनः स्थापित किया। उन्होंने समाज की बुराइयों को दूर करने का प्रयास किया। मध्यकाल में समाज में अनेक बुराइयां आ गई थी जैसे- शूद्रों को अछूतों की कोटि में रखना, उन्हें वेद पढ़ने का अधिकार न देना, वर्ण व्यवस्था जन्म से मान लेना आदि। स्वामी दयानन्द ने यह सिद्ध करने की कोशिश की कि हिन्दुओं की वर्तमान वर्ण व्यवस्था वैदिक वर्ण व्यवस्था के विपरीत है। वेद में कहीं भी जन्म से वर्ण व्यवस्था नहीं मानी गई, वरन् गुण कर्म स्वभाव के आधार पर ही समाज में कार्य विभाजन किया गया है।

गौतम बुद्ध ने वर्ण व्यवस्था को सुधारने के लिए वेदों का पूर्ण रूप से परित्याग कर दिया था। उन्होंने कुप्रथाओं के उन्मूलन में वेदों का सहारा लेने के स्थान पर वेदों का तिरस्कार किया था इसलिए उनके द्वारा स्थापित धर्म एक स्वतंत्र धर्म बन गया। परन्तु वेदों के प्रकाण्ड पंडित होने के कारण स्वामी दयानन्द ने अपनी सामाजिक विचारधारा का आधार वेद ही बनाया।

महर्षि ने वर्ण निर्धारण का आधार कर्म एवं आचार-विचार माना है, जन्म नहीं। उनका मत है कि धर्माचरण से नीच वर्ण उत्तम वर्ण में तथा अधर्माचरण से उत्तम वर्ण नीच वर्ण में चला जाता है।[1] तात्पर्य यह है कि अपने कर्म

---

1. स्वामी दयानन्द, सत्यार्थ प्रकाश, पृष्ठ 59 और आपस्तम्ब धर्मसूत्र

तथा गुण से ब्राहमण शूद्र और शूद्र ब्राहमण हो जाता है। गीता में भी गुण और कर्म के आधार पर वर्णों की उत्पत्ति की बात कही गयी है। गीता में श्रीकृष्ण कहते है "गुण और कर्म के आधार पर चारों वर्णों की रचना मेरे द्वारा की गई है।"[1]

यजुर्वेद के पुरुषसूत्र के एक मंत्र में कहा है- "पुरुष {ब्रहम} के मुँह से ब्राहमण, बाहु से क्षत्रिय, जाँघ से वैश्य और पैर से शूद्र उत्पन्न हुए।"[2] इसी वैदिक सिद्धांत के आधार पर स्मृतिकारों ने जन्म से वर्णव्यवस्था मानकर समाज को चार वर्णों में विभाजित करना स्वीकार किया। स्वामी दयानन्द कहते हैं कि वेद मंत्र की यह व्याख्या सही नहीं है। वेदादि शास्त्रों में चारों वर्णों की उत्पत्ति ब्रहम से वास्तविक नहीं वरन् लाक्षणिक है। स्वामी दयानन्द ब्रहम के मुखादि से उत्पन्न होने वाली कल्पना को गलत कहते हैं। ताण्डय ब्राहमण में स्वामी दयानन्द के विचारों की पुष्टि मिलती है। उसमें {ताण्डय ब्राहमण में} कहा है "ब्राहमण मनुष्यों में मुख्य है, अतएव एक ब्राहमण मुख से शक्ति प्रदर्शन करता है इसलिए कहा जाता है कि ब्राहमण मुख से सिरजा है।"[3]

इस प्रकार स्वामी दयानन्द के अनुसार वर्ण व्यवस्था जन्म से न मानकर गुण कर्म के आधार पर माननी चाहिए। स्वामी दयानन्द का यह सिद्धांत

1· चातुर्वर्ण्यमया सृष्ट गुणकर्म विभागशः। गीता 4·13

2· ब्राहमणोऽस्य मुखमासीद् बाहु राजन्यः कृतः। ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पदाभ्यां शूद्रो अजायत। यजुर्वेद, 31·11

3· "ब्राहमणो मनुष्याणां {मुखम्} तस्माद् ब्राहमणो मुखेन वीर्यं करोति। मुखतोही सृष्टा।" ताण्डय ब्राहमण 6·1·6

शुक्रनीति में भी स्पष्ट रूप से मिलता है कि "जन्म से कोई ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र व मलेच्छ नहीं होता किन्तु इस सारे वर्णभेद का आधार प्राणि के अपने गुण कर्म व स्वभाव है।"[1]

डा० राधाकृष्णन भी इसे गुण और कर्म पर आधारित व्यवस्था मानते हैं। उनके अनुसार वर्णों के परिवर्तन की अनुमति थी। धर्मशास्त्रों से भी यह बात स्पष्ट होती है। महाभारत के अनुशासन पर्व में मातंग ऋषि की कथा आती है जिनका जन्म चाण्डाल के घर में हुआ था लेकिन अपने तप व विद्या के बल पर वे ऋषि हो गये।[2] इसी पर्व के अनुसार पुराने समय में विश्वामित्र ने भी ब्राह्मणता प्राप्त कर ली थी। अतः वर्णों के परिवर्तन की प्रथा थी। मनु भी वर्ण परिवर्तन के नियम को मानते थे।

स्वामी दयानन्द के अनुसार गुण कर्म के आधार पर कौन किस वर्ण के योग्य है यह जानने के लिए "वर्णों की व्यवस्था कन्याओं की सोलहवें वर्ष और पुरुषों की पच्चीसवें वर्ष की परीक्षा में नियत करनी चाहिए।"[3] महर्षि के मत में वर्ण निर्धारण का दायित्व विद्या-सभा तथा राज्य-सभा का है। राज्य विद्वानों की सहायता से व्यक्तियों के गुण व योग्यता के अनुसार उनके वर्ण का निश्चय

---

1. शुक्रनीति 1·38
2. महा० अनु० 27/8, 27/11 व 3/19
3. स्वामी दयानन्द, सत्यार्थ प्रकाश, पृष्ठ 60

करे अर्थात् जिस-जिस योग्यता के वे हों उन्हें वही वर्ण प्रदान कर दिया जाये। स्वामी दयानन्द के अनुसार जन्म से कोई किसी वर्ण का नहीं होता। यदि किसी व्यक्ति में ब्राहमण के गुण हों फिर चाहे वह शूद्र के यहां ही क्यों न उत्पन्न हुआ हो उसे ब्राहमण की कोटि में रखना चाहिए। स्वामी दयानन्द समाज की रूढ़ियों को नष्ट कर उसकी रचना आदर्श वर्ण व्यवस्था के अनुसार करना चाहते थे जिसका आधार गुण, कर्म एवं स्वभाव हो, जन्म नहीं।

4· वर्ण और आश्रम व्यवस्था

आदर्श समाज के निर्माण के लिए मनुष्य के गुण, कर्म, स्वभाव के अनुसार उसका चतुर्विध विभाजन किया गया है। समाज की इस विभाजन व्यवस्था को ही वर्ण व्यवस्था कहा जाता है।[1] स्वामी दयानन्द भी इस विभाजन को स्वीकार करते हैं। लेकिन उनके लेखों में ब्राहमण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के अतिरिक्त अति शूद्रों का वर्णन भी आता है। आपस्तम्ब श्रौत सूत्रों में भी अति शूद्रों का वर्णन आया है। लेकिन अति शूद्र नामक कोई पांचवा वर्ण नहीं था। अति शूद्र से दयानन्द का तात्पर्य उससे था जो शूद्र के आदर्शों का भी पालन नहीं करता। स्वामी दयानन्द प्रत्येक वर्ण के विशेष धर्म और गुण को मनुस्मृति और गीता के आधार पर कहते हैं।

ब्राहमण- पुरुष सूक्त के "ब्राहमणोऽस्य मुखमासीद्" मन्त्र से ब्राहमणादि वर्णों को जो पुरुष समाज का मुखादि कहा है उससे इन वर्णों के गुणों और कर्तव्यों पर

1· चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः ।। भगवद्गीता 4/13

पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। ब्राहमण समाज का मुख है उसे मुख की भाँति ही तपस्वी होना चाहिए। जो मुख की भांति ज्ञानवान, तपस्वी, सहनशील, स्वार्थहीन और परोपकारी है, वही ब्राहमण है। "पढ़ना पढ़ाना, यज्ञ करना, कराना दान देना, लेना ये छ: कर्म हैं। इसी प्रकार शम, दम, तप, शौच, शांति, ऋजुता, ज्ञान, विज्ञान, आस्तिकता इनको मिलाकर पन्द्रह कार्य और गुण ब्राहमण वर्णस्थ मनुष्यों में अवश्य होने चाहिए।"[1] ब्राहमण समाज में सर्वोपरि है। किसी समाज का भविष्य ब्राहमणों पर सर्वाधिक निर्भर करता है क्योंकि वह ज्ञान का देने वाला है। उसे अपना सब ज्ञान और शक्तियाँ समाज के उपकार में लगा देनी चाहिए। समाज कल्याण को चाहने वाला व्यक्ति ही ब्राहमण कहलाता है। ब्राहमणों को वेदज्ञ होना चाहिए। स्वामी दयानन्द कहते हैं "जो ब्राहमण वेद को न पढ़कर अन्यत्र श्रम किया करता है वह अपने पुत्र पौत्र सहित शीघ्र शूद्र भाव को प्राप्त हो जाता है।"[2] वेदज्ञ होने के साथ-साथ ब्राहमणों को ब्रहमज्ञानी भी होना चाहिए। मनु के अनुसार "वही ब्राहमण समग्र वेद और परमेश्वर को जानता है जो प्रतिष्ठा से विषर्क तुल्य सदा डरता है और अपमान की इच्छा अमृत के समान किया करता है।"[3] अत: ब्राहमण को मान-अपमान आदि द्वन्दों को सहने का भी अभ्यास होना चाहिए।

---

1. मनु 1/88 तथा गीता 18/42 के आधार पर

2. स्वामी दयानन्द, सत्यार्थ प्रकाश, पृष्ठ 35

3. मनुस्मृति 2/162

क्षत्रिय- वर्ण व्यवस्था में क्षत्रिय का स्थान ब्राह्मण से निम्न होते हुए भी किन्हीं बातों में उनका महत्त्व उससे अधिक है क्षत्रियों को हम राष्ट्र का रक्षक कह सकते हैं। जो लोग अपने भीतर बल की विशेष वृद्धि करते हैं और उस बल से समाज की रक्षा करते हैं वे क्षत्रिय हैं। समाज में सुव्यवस्था बनाये रखना क्षत्रिय का काम है। क्षत्रिय द्वारा दण्ड धारण का एक मात्र उद्देश्य समाज के लोगों को पाप कर्म से दूर रखना होता है। क्षत्रियों को प्रजा की रक्षा करनी चाहिए और उन्हें प्रसन्न रखना चाहिए।

"न्याय से प्रजा की रक्षा अर्थात् पक्षपात छोड़के श्रेष्ठों का सत्कार और दुष्टों का तिरस्कार करना, सब प्रकार से सबका पालन, विद्या धर्म की प्रवृति और सुपात्रों की सेवा में धनादि पदार्थों का व्यय करना, अग्नि होमादि यज्ञ करना या कराना, वेदादि शास्त्रों का पढ़ना तथा पढ़वाना और विषयों में न फंसकर जितेन्द्रिय रह के सदा शरीर और आत्मा से बलवान होना। इसी प्रकार शौर्य, तेज, धृति, दक्षता, युद्ध में अपलायन, दान, ईश्वर भाव ये क्षत्रिय वर्ण के कर्म और गुण हैं।"[1]

स्वामी दयानन्द का कहना है कि यदि क्षत्रिय ज्ञान विहीन और भ्रष्टाचारी होगें तो समाज कभी उन्नति नहीं कर सकता इसलिए क्षत्रियों को विज्ञानवान होना चाहिए। स्वामी दयानन्द की यह परिकल्पना प्लेटो के

---

1. मनु 1/89 तथा गीता 18/43 के आधार पर

दार्शनिक शासक से मेल खाती है। लेकिन प्लेटो ब्राह्मण एवं क्षत्रिय में अन्तर नहीं करता, जो स्वामी दयानन्द को अमान्य है। क्षत्रियों को राज्य के अधिकार देने से कभी राज्य की हानि व विघ्न नहीं होता।

वैश्य- समाज का जो वर्ग राष्ट्र के लिए भोजन वस्त्रादि सामग्री जुटाता है उसे वैश्य कहते हैं। खेती, पशु पालन, व्यवसाय, लेन देनादि सब काम वैश्य के कहे जाते हैं। जो "विशः" अर्थात् प्रजाओं के लिए साधु हो, हितकारी हो, उसे वैश्य कहते हैं। वेद में वैश्य के लिए विश्य शब्द भी आता है।

ऋषि दयानन्द शास्त्रों के आधार पर वैश्यों के गुण-कर्म बताते हैं।- "गाय आदि पशुओं का पालन वर्द्धन करना, विद्या-धर्म की वृद्धि करने-कराने के लिए धन आदि का व्यय करना, अग्निहोत्रादि यज्ञों का करना, वेदादि शास्त्रों को पढ़ना, सब प्रकार के व्यापार करना, (कुसीद) एक सैकड़े में चार छः, आठ, बारह, सोलह या बीस आनों से अधिक व्याज और मूल से दूना अर्थात् एक रूपया दिया हो तो सौ वर्ष में भी दो रूपये अधिक न लेना और न देना, खेती करना। ये वैश्य के गुण कर्म हैं।"[1]

शूद्र- जो लोग ज्ञान आदि विशेष गुण अपने में नहीं रखते इसलिए वे समाज में ब्राहमणादि अन्य अंगों की सेवा का ही काम कर सकते हैं। वे शूद्र कहलाते हैं। ऋषि दयानन्द ने शूद्र के सम्बन्ध में लिखा है- "जो विद्या विहीन, जिसको पढ़ाने

---

1. मनु 1/90 के आधार पर और सत्यार्थ प्रकाश, पृष्ठ 61

से भी विद्या न आ सके, शरीर से पुष्ट, सेवा में कुशल हो वह शूद्र है।"[1] इसी प्रकार यजुर्वेद के "तपसे शूद्रम" अर्थात् शूद्र को तप के लिए बनाया है इस वाक्य में भी शूद्र के कर्तव्यों का संकेत मिलता है।

ऋषि दयानन्द ने शूद्र के गुण बताये हैं कि "शूद्र को योग्य है कि निंदा, ईर्ष्या, अभिमान आदि दोषों को छोड़कर ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यों की सेवा यथावत् करना और उसी से अपना जीवनयापन करना यही एक शूद्र का कर्म है।"[2] परन्तु स्वामी दयानन्द शूद्रों को अस्पृश्य नहीं मानते। शूद्र के साथ किसी प्रकार की घृणा का भाव वेद में नहीं है। वर्णों का भेद वेद की दृष्टि में विभिन्न प्रकार के कार्यों द्वारा समाज की सेवा के भाव पर अवलम्बित है। उसका आधार जन्म पर आश्रित ऊँच-नीच की भावना कदापि नहीं।

आश्रम व्यवस्था- जिस प्रकार मनुष्य समाज को वेद ने ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन चारों विभागों में बाँटा है, उसी प्रकार प्रत्येक व्यक्ति के जीवन को भी ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और सन्यास इन चार आश्रमों में विभक्त किया है। आश्रम जीवन की वह स्थिति है जिसमें कर्तव्यपालन के लिए पूर्ण परिश्रम किया जाता है।[3] आश्रम-व्यवस्था जीवन के वैयक्तिक पक्ष का और वर्णव्यवस्था सामाजिक पक्ष का प्रतिनिधित्व करती है। प्राचीनकाल से चली आ

---

1. ऋषि दयानन्द, संस्कारविधि
2. मनु 1/91 के आधार पर
3. हिन्दी विश्वकोश, प्रथम खण्ड, पृष्ठ 427

रही वर्णाश्रम व्यवस्था में कुछ दोष आ गये थे। स्वामी दयानन्द ने उसकी रूढ़िवादिता और दोषग्रस्तता को दूर करके पुन: उसकी युक्तियुक्त स्थापना की।

<u>ब्रहमचर्य आश्रम</u>- जीवन के प्रथम भाग में समाज के प्रत्येक व्यक्ति को गुरूकुल में आचार्य के पास जाकर ब्रहमचारी रहना होता है। आचार्य का कार्य जहां शिष्य को विद्या में निपुण बनाना है, वहाँ उसे सदाचारी भी बनाना है। सदाचारी विद्यार्थी शिष्य ही ब्रहमचारी कहा जाता है। स्वामी दयानन्द का कहना है "इस अवस्था में विद्यार्थियों को कुमार्गों से बचाकर उत्तम विद्या, शिक्षा, शील, स्वभाव और अध्यात्म की शिक्षा दिया करें।"[1] जिससे उत्तम विद्या, शिक्षा, शील, स्वभाव, शरीर और आत्मा से बलयुक्त हो के आनन्द को नित्य बढ़ा सकें।[2]

ब्रहमचर्य आश्रम में ब्रहमचारी को पूर्ण संयम का जीवन व्यतीत करते हुये अपने जीवन के लक्ष्य को निर्धारित कर लेना चाहिए। ब्रहमचर्य के अनुष्ठान से ही गृहस्थादि आश्रम भलीभांति उत्पन्न होते हैं क्योंकि ब्रहमचर्य ही उनका मूल है।

<u>गृहस्थाश्रम</u>- मनुष्य की आयु का दूसरा चरण गृहस्थाश्रम है। "जब यथावत् ब्रहमचर्य में आचार्यानुकूल वर्त्तकर धर्म से चारों वेद, तीन वा दो अथवा एक वेद को सांगोपांग पढ़के जिसका ब्रहमचर्य खण्डित न हुआ हो, वह पुरुष वा स्त्री गृहाश्रम में प्रवेश करें।[3] विवाह-संस्कार गृहाश्रम का प्रवेश द्वार है। गृहाश्रम

---

1. वृहद सत्यार्थ प्रकाश, पृष्ठ 39
2. सत्यार्थ प्रकाश, तृतीयसमुल्लास, पृष्ठ 26
3. सत्यार्थ प्रकाश, चतुर्थसमुल्लास, पृष्ठ 152

उसको कहते हैं "जो ऐहिक और पारलौकिक सुख-प्राप्ति के लिए विवाह करके अपने सामर्थ्य के अनुसार परोपकार करना और नियत काल में यथाविधि ईश्वरोपासना और गृहकृत्य करना और सत्य धर्म में ही अपना तन-मन-धन लगाना तथा धर्मानुसार सन्तानों की उत्पत्ति करना।"[1] गृहस्थ आश्रम व्यक्ति को परार्थ साधन में तत्पर करता है।

स्वामी दयानन्द गृहस्थी के लिए पंच महायज्ञों का विधान करते हैं- 1. ब्रह्मयज्ञ 2. देवयज्ञ 3. पितृयज्ञ 4. वैश्व देवयज्ञ 5. अतिथि यज्ञ। इनका पालन प्रत्येक गृहस्थ को करना चाहिए। "जैसे नदी और नद तब तक भ्रमते ही रहते हैं जब तक समुद्र को प्राप्त नहीं होते वैसे गृहस्थ ही के आश्रम से सब आश्रम स्थिर रहते हैं।"[2]

वानप्रस्थ आश्रम- वानप्रस्थ आश्रम का समय 50 वर्ष के उपरान्त है। "जब गृहस्थ के बाल पक जाये, शरीर की त्वचा ढीली पड़ जाये, तब वह विषयरोग से रहित होकर स्त्री को पुत्रों के संरक्षण में छोड़कर अथवा उसे भी साथ लेकर वन का आश्रय ग्रहण करे।"[3] जो कठोर नियमों का पालन करते हुए वन में निवास

---

1. संस्कारविधि, शताब्दी संस्करण, पृष्ठ 156
2. यथा नदीनदा: सर्वे सागरे यान्ति संस्थितिम् ।
   तथैवाश्रमिण: सर्वे गृहस्थे यान्ति संस्थितिम् ।। मनु0 6/90
   सत्यार्थ प्रकाश, पृष्ठ 81
3. मनु0 6/2-4

करता है, उसे वानप्रस्थ कहते हैं।[1] वानप्रस्थी गुरुकुल में आचार्य बनकर स्वाध्याय और प्रवचन का आनन्द लेता है और ब्रह्मचिन्तन में लीन रहता है। वह आरण्यकों और उपनिषदों में निहित तत्वचिन्तन का व्रती बनता है। इस प्रकार वह अध्यात्म चिन्तन के लिए वानप्रस्थ आश्रम में प्रवेश करता है।

<u>सन्यास आश्रम</u>- मानव इक्यानवें वर्ष से पचहतरवें वर्ष तक वानप्रस्थ होकर वन में रहे और आयु के चौथे भाग में संगों अर्थात् आसक्तियों का परित्याग कर परिव्राजक हो जाये।[2] सांसारिक सम्बन्धों का सम्पूर्ण रूप से त्याग ही सन्यास है। सन्यासाश्रम में वही प्रवेश कर सकता है जिसने स्वयं को ब्रह्मचर्य आश्रम में ब्राह्मण बना लिया है। मनु के मत से ब्राह्मण के लिए ही चारों आश्रमों का विधान है, ब्राह्मणेतर वर्णों के लिए नहीं। स्वामी दयानन्द का कहना है कि ब्राह्मण से तात्पर्य जाति के ब्राह्मण से नहीं है वरन् "जो सब वर्णों में पूर्ण विद्वान धार्मिक परोपकार प्रिय मनुष्य है उसी का नाम ब्राह्मण है।"[3] दयानन्द के अनुसार सन्यासी को कभी भी कर्मरहित नहीं रहना चाहिए। जो मनुष्य सभी प्राणियों को अभयदान देकर सन्यासी होता है उस ब्रह्मवादी सन्यासी को मुक्ति का आनन्दमय लोक प्राप्त होता है।[4] सन्यासी सभी प्राणियों में निर्वैरता, इन्द्रिय

---

1. वने चकर्षेण नियमेन च तिष्ठति चरतीति वनप्रस्थः। याज्ञवल्क्य स्मृति 3/45 की मिताक्षरा टीका
2. मनुस्मृति 6/33, सत्यार्थ प्रकाश में पंचमसमुल्लास, पृष्ठ 83
3. वृहद् सत्यार्थ प्रकाश, पृष्ठ 118
4. मनु 6/39

विषय के त्याग, वेदोक्त कर्म और अत्युग्र तपश्चरण द्वारा मोक्षपद को प्राप्त करता है।

5· शिक्षा व्यवस्था

स्वामी दयानन्द ने शिक्षा की व्यवस्था को अनिवार्य बताया है। उन्होंने विद्यादान को "अक्षयदान" मानते हुए लिखा है कि "यथार्थ दर्शन यह विद्या है यथार्थ विहित ज्ञान यह विद्या है-- विद्या में भ्रम नहीं होता है।"[1] शिक्षा जिससे विद्या, सभ्यता, धर्मात्मा जितेन्द्रियतादि की वृद्धि हो और अविद्यादि दोष छूटे उसको शिक्षा कहते हैं।[2]

अविद्यादि दोषों के छूटने से महर्षि का तात्पर्य अविद्या से मुक्त होकर मोक्ष को प्राप्त करना है। आत्मिक तथा मानसिक उन्नति के लिए शिक्षा की अत्यन्त आवश्यकता होती है। शिक्षा के अनुसार ही मनुष्य के जीवन का निर्माण होता है। इसी से राजा-प्रजा में अपेक्षित गुणों का विकास होता है। महर्षि के अनुसार- "राजा का मूर्ख होना बहुत बुरा है परन्तु प्रजा का भी मूर्ख रहना बहुत बुरा है। मूर्खों के ऊपर राज्य करने से राजा की शोभा नहीं, किन्तु प्रजा को विद्या युक्त, धर्मात्मा और चतुर करके उन पर राज्य करने में राजा और प्रजा की शोभा और सुखों की उन्नति होती है।"[3]

स्वामी दयानन्द अनिवार्य शिक्षा पर बल देते हैं। आयु का प्रथम

1· ऋषि दयानन्द सरस्वती के शास्त्रार्थ और प्रवचन (पूना प्रवचन सं03) पृष्ठ 28।

2· स्वामी दयानन्द, सत्यार्थ प्रकाश, पृष्ठ 406 (स्वमन्तव्य0)

3· ऋषि दयानन्द सरस्वती के पत्र और विज्ञापन भाग 1, पृ0 42

भाग ब्रहमचर्य शिक्षा के लिए नियत किया गया है। स्वामी दयानन्द का कहना है कि माता-पिता तथा आचार्य ये तीनों शिक्षक होते हैं। प्रारम्भ में माता पिता को बच्चों को शिक्षा देनी चाहिए। जब बच्चा पाँच वर्ष की आयु का हो जाये तो माता पिता सर्वप्रथम देवनागरी तथा कालान्तर में अन्य देशीय भाषाओं के अक्षरों का अभ्यास करायें। आठ वर्ष की आयु होने पर बच्चों को शिक्षा के लिए आचार्य के घर भेजना चाहिए। दयानन्द का कहना है कि "इसमें राज-नियम और जाति नियम होना चाहिए कि पांचवें अथवा आठवें वर्ष से आगे अपने लड़कों और लड़कियों को घर न रख सकें। पाठशाला में अवश्य भेज देवें। जो न भेजे वह दण्डनीय हो।"[1]

स्वामी दयानन्द का मत था कि भारतीय शिक्षा पद्धति ही मनुष्य का निर्माण कर सकती है। इसके लिए महर्षि ने गुरूकुल शिक्षा प्रणाली पर बल दिया। जहाँ राजा तथा दरिद्र दोनों समान स्थिति में रहकर ब्रहमचर्य का पालन करते हुए विद्याध्ययन करें। दयानन्द का कहना है कि गुरूकुल में नियुक्त किये जाने वाले अध्यापक या अध्यापिका भ्रष्ट तथा दुराचारी न हों । शिक्षक को विशेष गुण युक्त होना चाहिए क्योंकि वही समाज का निर्माता है। साथ ही विद्यार्थी जिस पर समाज का भविष्य निर्भर करता है उसे भी गुण युक्त होना चाहिए। उसे जितेन्द्रिय, शांत, विचारशील, परिश्रमी और आलस्य रहित होना चाहिए क्योंकि "सुख भोगने की इच्छा करने वाले को विद्या कहां और विद्या पढ़ने वाले

---

1. सत्यार्थ प्रकाश, पृष्ठ 27

को सुख कहाँ।" इसलिए विद्यार्थी को विषयसुख को छोड़कर विद्या अध्ययन करना चाहिए।

स्वामी दयानन्द के अनुसार जो ग्रन्थ सत्य का ज्ञान कराते हैं उनका अध्ययन करना चाहिए और जो ग्रन्थ असत्य का उनका त्याग । उन्होंने अष्टाध्यायी, महाभाष्य, व्याकरण, पाणिनीसूत्र, षड्दर्शन, उपनिषद् आदि आर्ष ग्रन्थों का पढ़ने का उपदेश दिया। उन्होंने प्रबल युक्तियों और तर्कों द्वारा अनार्ष ग्रन्थों को पढ़ने का निषेध किया। उनका कहना था कि आर्ष पाठ विधि द्वारा ही हम वेदों तक पहुँच सकते हैं। स्वामी दयानन्द वेद को सब सत्य विद्याओं की पुस्तक मानते थे इसलिए उन्होंने शिक्षा में वेद के अध्ययन को प्रधानता दी।

स्वामी दयानन्द की शिक्षा व्यवस्था की सबसे महत्वपूर्ण बात यह थी कि उन्होंने स्त्री शिक्षा पर विशेष बल दिया। उनका कहना था कि जब तक स्त्रियां विदुषी नहीं होती तब तक उत्तम शिक्षा भी नहीं बढ़ती।[1] इसलिए स्त्रियों को सुशिक्षित करना चाहिए। उन्होंने स्त्री-पुरुष या ब्राह्मण शूद्र के नाम पर शिक्षा में किसी प्रकार का भेद स्वीकार नहीं किया परन्तु स्वामी जी सहशिक्षा के विरोधी थे। उनका कहना था कि लड़के और लड़कियों के विद्यालय एक दूसरे से दो कोश की दूरी पर होने चाहिए।

---

1. यजुर्वेद भाष्य, 37·4

अतः कहा जा सकता है कि स्वामी दयानन्द अनिवार्य शिक्षा के समर्थक थे। उनके लिए शिक्षा वह अनुशासन है जो बौद्धिक और शारीरिक नियन्त्रण द्वारा व्यक्तियों में संयम तथा आत्मनियंत्रण की शक्ति उत्पन्न करती है। इसलिए वह स्त्री-पुरुषों की शिक्षा पर समान रूप से बल देते हैं जो कि राष्ट्र के विकास के लिए आवश्यक है।

6. दयानन्द की राजनीति विषयक अवधारणाएँ

स्वामी दयानन्द की राजनीति विषयक अवधारणाएँ धर्ममूलक हैं। उन्होंने राज्य विषयक चिन्तन हेतु "राज-धर्म" शब्द का ही प्रयोग किया है जिसका अर्थ होता है- राजा का धर्म अर्थात् राजा के कर्तव्य । व्यक्ति और राज्य का आपस में सम्बन्ध, राज्य के कर्तव्य, राज्य के प्रति प्रजा के कर्तव्य यह सब इसी में आ जाता है। "राज-धर्म" शब्द का प्रयोग महाभारत एवं मनुस्मृति आदि ग्रंथों में भी किया गया है। महाभारत में भीष्म ने राजधर्म को सभी प्रकार के धर्मों का मूल मानते हुए कहा है कि "सब धर्मों में राज धर्म ही प्रधान है--- सब विधाएँ राज-धर्म में ही आ जाती हैं।"[1]

स्वामी दयानन्द राजनीति को धर्म से अलग नहीं मानते थे। उनके अनुसार जब भी राजनीति का धर्म से एवं नैतिकता से विच्छेद हुआ है उसका परिणाम स्वार्थ, कपट, हिंसा तथा विश्वयुद्ध ही हुआ है। महात्मा गांधी ने भी धर्म और नीतिशून्य राजनीति को त्याज्य बताया है। अरविन्द भी

---

1. महाभारत शा0 पर्व, 63.27

इसी राजनीति के समर्थक रहे हैं। इससे स्पष्ट है कि दयानन्द ने उक्त धर्ममूलक राजनीति को प्रधानता दी जिसके समर्थक गांधी और अरविन्द भी थे। दयानन्द का मत था कि "यदि अधर्म से चक्रवर्ती राज्य भी प्राप्त होता है तो उसको ग्रहण नहीं करना चाहिए।"[1]

दयानन्द के अनुसार राज्य एक पवित्र संगठन है जिस पर व्यक्तियों का भविष्य निर्भर करता है। व्यक्ति और राज्य एक दूसरे से संबंधित हैं। अच्छा राज्य व्यक्ति के आधार पर उन्नति करता है और व्यक्ति अच्छे राज्य के कारण अधिक समय तक सुरक्षित रहता है। दयानन्द सम्पूर्ण राज-वर्ग को प्रजा के अधीन रखने को कहते हैं क्योंकि उनके विचार से "जैसे सिंह, मांसाहारी हृष्ट पुष्ट पशु को मार कर खा लेता है वैसे स्वतन्त्र राजा प्रजा का नाश करता है अर्थात् किसी को अपने से अधिक नहीं होने देता।"[2] इसलिए दयानन्द स्वतंत्र और निरंकुश राजतंत्र के विरोधी थे। उनके राज-दर्शन में राजा स्वामी न होकर प्रजा का सेवक मात्र है। उन्होंने शासकवर्ग को यह निर्देश दिया है कि वे अपने को परमेश्वर की प्रजा तथा भृत्य स्वीकार करें।[3] वे कहते हैं कि राजा को प्रजा के पालन व राज्य के कर्म निभाने में अपने कर्तव्यों का ध्यान प्राण प्रण

---

1. संस्कारविधि, पृष्ठ 230
2. स्वामी दयानन्द, सत्यार्थ प्रकाश, पृष्ठ 92
3. स्वामी दयानन्द, सत्यार्थ प्रकाश, पृष्ठ 115

से रख राज-धर्म को निभाना चाहिए। राजा का मान-अपमान उसके कार्यों पर निर्भर करता है। यदि वह प्रजाहित के विरुद्ध कार्य करता है तो प्रजा उसको अपदस्थ भी कर सकती है।

स्वामी दयानन्द ने राजा-प्रजा को एक दूसरे का पूरक और सहयोगी माना है। उनके अनुसार "जो प्रजा न हो तो राजा किसका और राजा न हो तो प्रजा किसकी कहावे।"[1] इसीलिए राजा और प्रजा दोनों को प्राण के तुल्य एक दूसरे की पुष्टि करनी चाहिए। एक दूसरे को निर्बल करने से क्षय-रोग की भांति दोनों निर्बल होकर नष्ट हो जाते हैं। वह कहते हैं कि एक राज्य तभी तक उन्नति कर सकता है जब तक मनुष्य सत्यनिष्ठ है। यदि व्यक्ति दुष्ट चित, स्वार्थी, असत्यवादी, अन्यायपूर्ण, क्रूर और लालची होगें तो राज्य भी संकट में पड़ जायेगा। इसीलिए महर्षि ने राजा पर प्रजा का अर्थात् राज्य पर व्यक्ति का और व्यक्ति पर राज्य का नियन्त्रण स्वीकार किया है। उनका मत है कि यदि दोनों में से कोई अधर्म युक्त कार्यों को करे तो प्रजा राजा को और राजा प्रजा को दण्ड भी दे। स्वामी दयानन्द के अनुसार "न्याय युक्त दण्ड ही का नाम राजा और धर्म है जो उसका लोप करता है, उससे नीच पुरुष दूसरा कौन होगा।"[2] इसलिए यदि राजा पिता की भाँति प्रजा की रक्षा न करे तो उसको प्रजा कभी न माने पर यदि राजा न्यायकारी एवं धर्मानुयायी

---

1. स्वामी दयानन्द, सत्यार्थ प्रकाश, पृष्ठ 108 (मनु07, 130)
2. स्वामी दयानन्द, सत्यार्थ प्रकाश, पृष्ठ 114

है तो प्रजा उसको पिता-तुल्य मानें।

दयानन्द ने राजा को धर्मानुयायी बनाने के लिए उसे प्रजा का सेवक मात्र होने का उपदेश दिया। उनका कथन है कि राजा अपने शासन कार्य में हमेशा धर्मयुक्त न्यायपूर्वक व्यवहार करे और प्रजा अपने कार्यों को भली प्रकार करे। इस प्रकार राजा और प्रजा परस्पर अधीन रहते हुए पुरुषार्थ चतुष्टय की प्राप्ति के लिए प्रयास करें। दयानन्द के अनुसार "राजा और प्रजा दोनों मिलके धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की सिद्धि के प्रचार करने में सदा प्रवृत्त रहें।"[1]

स्पष्ट है कि स्वामी दयानन्द के राज-दर्शन में राज्य और व्यक्ति अर्थात् राजा और प्रजा का संबंध धर्म, सत्य, नैतिकता और स्नेह पर आधारित है।

7. स्वराज्य

स्वामी दयानन्द भारतीय स्वराज्य के अग्रदूत थे। उन्होंने विदेशी शासन के आतंकपूर्ण और बर्बरता पूर्ण अत्याचार के कारण सम्पूर्ण भारत में स्वतन्त्रता और स्वराज्य का नारा लगाया। उनके "स्वराज्य" शब्द का अर्थ स्वतन्त्रता और स्वशासन का समुच्चय है। स्वामी दयानन्द ने स्वराज्य शब्द के लिए अपने ग्रंथों में "स्वदेशीय राज्य" और "स्वराज" का प्रयोग किया है।

---

1. दयानन्द ग्रंथमाला, भाग 2

वह स्वराज्य और स्वतन्त्रता को अपने जीवन का लक्ष्य समझते थे। उनका मत था कि स्वाधीनता सबसे बड़ा सुख है और पराधीनता सबसे बड़ा दुख। दयानन्द के अनुसार उदार विदेशी शासन स्वदेशी शासन की अपेक्षा कभी भी अच्छा नहीं हो सकता। उनके शब्दों में- "कोई कितना ही करे परन्तु जो स्वदेशीय राज्य होता है, वह सर्वोपरि उत्तम होता है--- प्रजा पर पिता-माता के समान कृपा, न्याय और दया के साथ विदेशियों का राज्य भी पूर्ण सुखदायक नहीं है।"[1] उनका समस्त मनुष्यों से यह आग्रह था कि "जिस प्रकार से स्वाधीन होके सब लोग सदा सुखी रहें वैसा ही यत्न करते रहो।"[2]

स्वामी दयानन्द का विश्वास था कि पराधीन होकर कोई भी राष्ट्र उन्नति नहीं कर सकता इसलिए उन्होंने भारतीयों के स्वदेशाभिमान को जागृत किया। उन्होंने भारतीयों से आग्रह किया कि यदि वे अपने को धार्मिक अन्धविश्वासों और सामाजिक दुर्बलताओं से मुक्त कर लें तो स्वराज्य की प्राप्ति हो सकती है क्योंकि अन्धविश्वास और सामाजिक कुरीतियां ही स्वराज्य प्राप्ति के मार्ग में सबसे बड़ी बाधा थीं। दयानन्द ने वेदों का आश्रय लेकर उनको दूर करने का प्रयास किया। उनके मूर्तिपूजा के खण्डन से रुष्ट ब्राहमण ने उनको विष दिया लेकिन दयानन्द ने यह कह उसको छोड़ दिया कि "मैं दुनिया को कैद कराने नहीं अपितु उसे कैद से छुड़ाने आया हूँ।"[3] वे मनुष्यों के चरित्र-निर्माण के लिए

---

1. स्वामी दयानन्द, सत्यार्थ प्रकाश, पृष्ठ 153

2. ऋ0 भाष्य भूमिका, पृष्ठ 103

3. देवेन्द्र नाथ मुखोपाध्याय, महर्षि दयानन्द सरस्वती का जीवन चरित्र भाग 1, पृष्ठ 20।

हमेशा प्रयत्नशील रहे। उन्होंने कहा "मनुष्यों को चाहिए कि पुरुषार्थ करने से पराधीनता छुड़ाके स्वाधीनता को निरन्तर स्वीकार करें।"[1]

दयानन्द के हृदय में स्वराज्य की उत्कट इच्छा थी। अपने ग्रंथ आर्याभिविनय में भी उन्होंने ईश्वर से यह प्रार्थना की कि- "अन्य देशीय राजा हमारे देश में कभी न हों तथा हम लोग पराधीन कभी न हों।"[2] उनके स्वराज्य की भावना को स्पष्ट करते हुए मुंशी प्रेमचन्द्र ने कहा है कि- "स्वराज्य का स्वरूप महर्षि के लिए विदेशी नहीं, अपितु स्वदेशी था। उसकी सूरत आर्यावर्त की अन्तरात्मा और हजारों वर्षों के पुराने उत्तमोत्तम गुणों एवं भावों के अनुसार थी।"[3]

वास्तव में स्वामी दयानन्द ने स्वराज्य प्राप्ति के लिए अथक प्रयास किया। श्रीमती एनी बेसेन्ट ने कहा कि "जब स्वराज्य का मंदिर बनेगा, तो उसमें बड़े-बड़े नेताओं की मूर्तियां होंगी और सबसे ऊँची मूर्ति दयानन्द की होगी। वे देश को स्वतंत्र कराना चाहते थे। उनकी देश मुक्ति की भावना उनके राष्ट्र-प्रेम का ज्वलन्त प्रमाण है।

1· यजुर्वेद भाष्य-15·5

2· आर्याभिविनय-पृष्ठ 155

3· रामतीर्थ भाटिया, महर्षि दयानन्द के सर्वश्रेष्ठ भाषण-पृष्ठ 7

4· उमाकान्त उपाध्याय, भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम में आर्य समाज की देन पृष्ठ 68

8· प्रजातन्त्र पर दयानन्द के विचार

महर्षि दयानन्द स्पष्टत: एकतन्त्रीय राज्य के पक्ष में नहीं थे और न वे बहुतन्त्रवाद के ही पक्षपाती थे। प्रत्युत वे लोकतन्त्र, प्रजातन्त्र के पक्षपाती थे। उनके समय में वर्ण व्यवस्था प्रचलित थी और जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में जन्म सिद्ध अधिकारों ने प्रभाव जमाया हुआ था। शासन विदेशियों के हाथों में था। ऐसे समय में स्वामी दयानन्द ने प्रजातान्त्रिक मूल्यों की स्थापना की। प्रजातन्त्र का सर्वप्रधान लक्षण यह होता है कि राजसत्ता प्रजा में निहित हो। उनका मत था कि प्रजा से स्वतन्त्र राज वर्ग प्रजा का नाश कर देता है। इसलिए राजा और प्रजा दोनों को मिलकर कार्य करना चाहिए। राजा और प्रजा दोनों आत्म संबंधी कार्य करने के लिए स्वतन्त्र हैं परन्तु पर-संबंधी कार्यों में परतंत्र हैं।[1]

दयानन्द ने राजाओं के चरित्र और स्वभाव पर अधिक बल दिया है और इसे ही धर्म भी कहा है। इनके प्रजातंत्र अथवा लोकतन्त्रवाद की पुष्टि हमें यजुर्वेद के भाष्य से मिलती है जिसमें कहा है- "हे राजन्! आप ऐसे उत्तम विनय को धारण कीजिए जिससे प्राचीन वृद्धजन आपको बड़ा माना करें। राज्य के अच्छे नियमों को प्रवृत्त कीजिए जिससे आप और आपका राज्य विघ्न से रहित होकर

1· स्वामी दयानन्द, सत्यार्थ प्रकाश, पृष्ठ 108- "दोनों अपने-अपने काम में स्वतंत्र और मिले हुए प्रीतियुक्त काम में परतन्त्र हैं।"

सब ओर बढ़े और प्रजाजन आपको सर्वोपरि माना करें।"[1] उन्होंने प्रजातंत्र को गुणवत्ता पर आधारित किया है।

दयानन्द ने अपने प्रजातन्त्रवादी प्रवृत्ति के फलस्वरूप ही राजा के प्रचलित दैवी अथवा वंशानुगत सिद्धान्तों को अस्वीकार करते हुए निर्वाचित राजा के सिद्धांत का प्रतिपादन किया है। राजा का निर्वाचन एक ऐसी बैठक द्वारा किया जायेगा जिसमें सम्पूर्ण प्रजा, सभासद् एवं राज पुरुष भाग लेंगे। दयानन्द ने राजा के साथ-साथ सभा के सदस्यों का भी निर्वाचन प्रजा द्वारा करने की बात कही है।

दयानन्द के अनुसार आदर्श प्रजातान्त्रिक राज्य वही है जिसमें प्रजा को चिन्तन एवं अभिव्यक्ति की पूर्ण स्वतन्त्रता हो। उनका मत है कि यदि राजा प्रजा की भलाई की नहीं सोचता है उसके प्रतिकूल आचरण करता है तो प्रजा को उसके विरूद्ध विद्रोह करने का अधिकार है।[2] राजा की शक्ति सभा और प्रजा की सहमति और स्वीकृति पर निर्भर करती है। राजा देश का शासन तीन सभाओं विधार्य सभा, धर्मार्य सभा तथा राजार्य सभा की सहायता से चलायें। यदि प्रजा व राजा में मतभेद हो तब तीनों सभायें मिलकर राजा के निर्णय पर विचार करें और जैसा उनका निर्णय हो उन पर सबको चलना चाहिए। ये तीनों सभायें राज्य के नियम बनाये जो शासन में लागू हों। "तीनों सभाओं की सम्मति

---

1. यजुर्वेद भा0 27,4-"ओ5म इहैवाग्नेऽधि धारया रयिं
त्वा निक्रन् पूर्वचितो निकारिण: ।
क्षत्रमग्ने सुयममस्तु तुभ्यमुपसता वर्द्धतां तं अनिष्टत:।

2. ऋ0भा0-4·4·9-"यदि राजा अन्याय करे तो प्रजा उसका शीघ्र त्याग करे

से राजनीति के उत्तम नियम और नियमों के अधीन सब लोग वर्तें।"[1] इस प्रकार सभा, राजा और प्रजा के पारस्परिक सहयोग से ही शासन व्यवस्था का संचालन किया जाना चाहिए।

दयानन्द ने प्रजा के अधिकारों एवं स्वतन्त्रताओं की रक्षा हेतु धर्मानुकूल विधि के शासन को मान्यता दी है। शासन व्यक्ति विशेष की इच्छाओं का न होकर विधि का होगा। उन्होंने राजा को निर्देशित करते हुए लिखा है कि- " वह आज्ञा जो कि प्रजा के साथ सम्बन्ध रखती हो, सब में प्रजा की सम्मति लेवें और सर्वत्र प्रसिद्ध करके गुण दोष समझें। पश्चात् गुणाढ्य नियमों को नियत और दोष युक्तों का त्याग करें।"[2] दयानन्द ने राजा, सभा और प्रजा तीनों को एक दूसरे के अधीन कर अपनी विलक्षण प्रतिभा का परिचय दिया है।

महर्षि दयानन्द की राजनीति विषयक समस्त मान्यताओं से यह स्पष्ट हो जाता है कि उनका राजनीति दर्शन स्वतन्त्रता और स्वराज्य का दर्शन है। उन्होंने राजनीति को धर्म का आवश्यक अंग माना है। धर्म को नैतिकता, सद्गुण, सत्य, न्याय आदि का प्रतिरूप मानने पर ही राजनीति को राजधर्म का स्थान प्राप्त होगा। उनके विचार में स्वार्थ सिद्धि या आर्थिक समृद्धि के लिये राजनीति धारण करना उचित नहीं है। उन्होंने धर्मानुप्राणित राजनीति को प्रधानता दी है जिसको स्वीकार करने से भारतीयता की रक्षा और राष्ट्र के विकास में वृद्धि होगी।

---

1. स्वामी दयानन्द, सत्यार्थ प्रकाश, षष्ठसमुल्लास, पृष्ठ 92
2. ऋषि दयानन्द सरस्वती के पत्र और विज्ञापन- भाग2, पृष्ठ-63।

अध्याय- VII

उपसंहार

स्वामी दयानन्द का दर्शन ईश्वरवादी दर्शनों में से एक है। उनके दर्शन में ईश्वर परमसत्ता है जो सृष्टि का रचयिता व पालनकर्त्ता है। वह सर्वशक्ति-सम्पन्न, सर्वज्ञ व सत्य गुणों से युक्त है। अनीश्वरवादी ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास नहीं करते। उनके अनुसार इस विश्व का बनाने वाला कोई भी नहीं है। इसकी उत्पत्ति स्वभाव से होती है। लेकिन स्वामी दयानन्द के अनुसार स्वभाव से सृष्टि नहीं होती। यदि स्वभाव से सृष्टि होती तो सूर्य, चन्द्र आदि आप से आप क्यों नहीं बन जाते इस लिये सृष्टि परमेश्वर की रचना से होती है।

दयानन्द के अनुसार ईश्वर सर्वोच्च सत्ता है। इसी को वे ब्रहम कहते हैं और यही परम पुरुष होने से परमात्मा है। ईश्वर के ब्रहम, आत्मा, ईश्वर, ओ5म्, आदि अनेक नाम हैं। जो उसके गुणों के बाचक हैं। दयानन्द ईश्वर को निराकार मानते हैं। निराकार होने से ईश्वर का कोई प्रतिबिम्ब संभव नहीं है इसलिये दयानन्द मूर्ति पूजा का निषेध करते हैं।

दयानन्द केवल ईश्वर को ही सर्वशक्ति मान और उपासना का विषय मानते हैं। वे वेद में प्रतिपादित एकेश्वरवादी विचार धारा का समर्थन करते हैं। बहुईश्वरवाद ईश्वर के अतिरिक्त अन्य अनेक देवी-देवता को भी उपासना का विषय मानता है लेकिन बहुईश्वरवाद की यह धारणा न तो वेद प्रतिपादित है और न युक्तिसंगत ही है। देवता दिव्य गुणों से युक्त होने के कारण कहलाते

हैं परन्तु उपासनीय देव केवल परमेश्वर ही हैं।

हिन्दू धर्म की यह मान्यता कि ईश्वर अवतार धारण करता है, गत है। ईश्वर तो सर्वशक्तिमान है उसे अवतार धारण करने की क्या आवश्यक है। वह अपनी इच्छा मात्र से ही दुष्टों का नाश कर सकता है। फिर नि कार और सर्वव्यापक परमात्मा एक स्त्री के गर्भ में कैसे आ सकता है। क्या वह ले से वहाँ नहीं था? अतः ईश्वर के सर्वव्यापक होने से उसका अवतार धारण रना सिद्ध नहीं होता। इस प्रकार दयानन्द अवतार वाद का खण्डन करते हैं।

सर्वशक्तिमान ईश्वर निर्गुण और सगुण दोनों हैं। अपने अनन्त ज्ञान बल आदि गुणों से सहित होने से सगुण और रूपादि जड़ के तथा द्वेषादि जीव के गुणों से पृथक होने से निर्गुण है। इन्हीं दोनों रूपों में उसकी उपासना की जाती है। शंकराचार्य ब्रहम को निर्गुण मानते हैं उनके अनुसार ब्रहम समस्त गुणों से हीन है परन्तु दयानन्द के अनुसार ब्रहम को निर्गुण मानने पर उसके विषय में विचारों का उद्गार भी सम्भव नहीं है फिर उसकी उपासना कैसे की जा सकती है। दयानन्द ईश्वर को सगुण और निर्गुण दोनों मानते हैं। वे ब्रहम और ईश्वर में कोई भेद नहीं करते।

दयानन्द रामानुज के ब्रहम और जीव के मध्य शरीरी-शरीर संबंध को असत्य मानते हैं। उनके अनुसार ब्रहम आत्मा से भिन्न है और उसमें किसी प्रकार का कोई अद्वैत संबंध नहीं है। इस प्रकार दयानन्द ईश्वर को सर्वशक्तिमान, सृष्टि का कर्ता, निराकार, सर्वव्यापक और कर्मफल प्रदाता मानते हैं। उनके दर्शन में ईश्वर, जीव और प्रकृति की नित्य सत्ता है।

जीवात्मा स्वरूप से नित्य, अजन्मा और निराकार है। शरीर के

नष्ट होने पर जीव नष्ट नहीं होता वरन् दूसरे शरीर में चला जाता है। आत्मा का साकार रूप जन्म और मृत्यु दोनों का विषय है। परमात्मा और जीवात्मा के चैतन्य रूप में कोई भेद नहीं है पर अन्य अनेक प्रकार के भेद हैं- जीव अल्प अल्पज्ञ और ब्रहम सर्व व्यापक सर्वज्ञ है। ब्रहम नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त स्वभाव हैं और जीव कभी बद्ध कभी मुक्त रहता है। ब्रहम को सर्वव्यापक सर्वज्ञ होने से भ्रम व अविद्या कभी नहीं हो सकती है और जीव को कभी विद्या और कभी अविद्या होती है। ब्रहम जन्म मरण दुख को कभी प्राप्त नहीं होता और जीव प्राप्त होता है।

जीवात्मा संख्या की दृष्टि से अनेक हैं, अनन्त नहीं। यदि जीवात्माओं को संख्या में अनन्त माना जाये तब उनके कर्मफल व जन्म की व्यवस्था नहीं हो सकेगी क्योंकि अनन्त जीवों के अनन्त कर्मों के अनन्त फलों की व्यवस्था कौन कर सकेगा। अत: जीव संख्या में अनेक हैं। स्वामी दयानन्द भी जीवों को संख्या में अनेक मानते हैं। इस विषय पर वैदिक दर्शन भी दयानन्द के मत का समर्थन करते हैं।

दयानन्द जीव और ईश्वर के बीच व्याप्य-व्यापक संबंध मानते हैं। परमेश्वर व्यापक और जीव व्याप्य है। आत्मा न सर्वव्यापक है न मध्यम परिमाण अपितु परिच्छन्न परिमाण का है। यदि प्रत्येक आत्मा को विभु माना जाये तो प्रत्येक देह के साथ प्रत्येक आत्मा का संबंध बने रहने से कहीं भी देहान्तर में प्रत्येक आत्मा को ज्ञान होने का प्रसंग प्राप्त होता जो सर्वथा प्रत्यक्षादि प्रमाणों के विपरीत है। अत: आत्मा परिच्छन्न है। परिच्छन्न शब्द आत्मा के एकदेशी होने का कथन करते हैं अर्थात् एक आत्मा का एकदेह में

निवास होने से आत्मा परिच्छन्न है।

जीवात्मा न स्वभाव से बद्ध है और न मुक्त । अपने कर्मानुसार जीवात्मा पुर्नजन्म धारण करता है। पूर्वजन्म, वर्तमान जन्म और पुर्नजन्म की यह प्रक्रिया कर्मफलानुसार चलती रहती है। जीव कर्म करने में स्वतंत्र हैं परन्तु कर्मों का फल भोगने में ईश्वर पर आश्रित है। जीवात्मा अल्पज्ञ है। अल्पज्ञता के कारण ही वह बंधन में फंसता है। बंधन से छूटना ही मुक्ति है। मुक्ति का स्वरूप दुख निवृत्ति और आनन्द की प्राप्ति है। आनन्द प्राप्ति का साधन जीव का संकल्पमय शरीर होता है। मुक्ति में जीवात्मा का ब्रहम में लय नहीं होता। मुक्ति में जीव विद्यमान रहता है।

दयानन्द मुक्ति से पुनरावृति का सिद्धांत मानते हैं। दयानन्द के अनुसार जीव के अल्पज्ञ, अल्पशक्ति होने से उसमें वह सामर्थ्य कभी नहीं आता जिससे वह अनन्त काल तक ब्रहमानन्द का भोग करता रहे। मुक्ति से जीवात्मा एक निश्चित अवधि तक परमात्मा में मुक्ति के आनन्द को भोग कर पुन: जन्म मरण के चक्र में आ जाता है। दयानन्द के अनुसार मुक्ति से पुनरावृति जन्म मरण के सदृश नहीं है। उन्होंने मोक्ष काल को परान्त काल कहा है जो एक लम्बा समय है। मुक्त जीव परान्तकाल के बाद मुक्ति से लौटता है। इसके अतिरिक्त संसारी जीवों में मुक्ति की इच्छा पाये जाने से भी मुक्ति से पुनरावृति की पुष्टि होती है।

अद्वैतवादी जीव की सत्ता ब्रहम से पृथक नहीं मानते परन्तु स्वामी दयानन्द के अनुसार जीव ब्रहम से पृथक है। जीव को ब्रहम से पृथक व नित्य मानने पर ही मुक्ति अवस्था की सार्थकता है।

प्रकृति भी ईश्वर और जीव की तरह अनादि और अजन्मा है। जगत का और अन्य पदार्थों का जन्म होता है परन्तु प्रकृति का कभी जन्म नहीं होता। प्रकृति के नित्य होने से इसका कभी नाश भी नहीं होता। प्रलयावस्था में प्रकृति ब्रह्म के गर्भ में अव्यक्तावस्था में वर्तमान रहती है। इसका सर्वथा अभाव नहीं होता। ईश्वर प्रकृति से जो कि प्रारम्भ में अव्यक्तावस्था में थी, अनेक प्रकार की सृष्टि करता है। स्वामी दयानन्द ब्रह्म को सृष्टि का निमित्त कारण मानते हैं और प्रकृति को उपादान कारण। ब्रह्म ही सृष्टि को रचने वाला है क्योंकि जड़ प्रधान स्वयं सृष्टि उत्पन्न नहीं कर सकता।

प्रकृति त्रिगुणमयी है। सत्व, रज और तम इन तीनों गुणों की साम्यावस्था का नाम प्रकृति है। वेदों, उपनिषदों, और गीता में प्रकृति का विभिन्न रूपों में वर्णन है यथा -माया, अविद्या, अव्यक्त, प्रधान, तमस् आदि। अदिति शब्द से भी प्रकृति का बोध होता है। दयानन्द के अनुसार ईश्वर, जीव और प्रकृति अर्थात् जगत का कारण इनके अविनाशी होने से उनकी भी अदिति संज्ञा है। प्रकृति के तीनों गुण जीवात्मा को प्रभावित करते हैं। जीवात्मा को प्रकृति के संग से बद्धता आती है। यह प्रकृतिही अविद्या रूप में उसे सांसारिक बंधनों में फंसाती है और विद्या रूप में ब्रह्मज्ञान करा कर मोक्ष प्रदान करती है।

मूल प्रकृति का अस्तित्व ब्रह्म के आश्रित नहीं है वरन् प्रकृति अनादि है। दयानन्द के अनुसार प्रकृति परमात्मा की सामर्थ्य है। परमात्मा और प्रकृति स्वरूपता भिन्न होते हुए भी अभिन्न हैं। प्रलयावस्था में ईश्वर और प्रकृति एक तत्त्व न होते हुए भी मिले रहते हैं।

सृष्टि से पूर्व कार्य जगत अपने सूक्ष्म कारण मूल प्रकृति में लीन रहता है। उस अवस्था में अव्यक्त प्रकृति तम से व्यापी थी। केवल सत्व, रज और तम

का सूक्ष्म प्रधान सर्वत्र फैला हुआ था। ईश्वर ने उसे कारण रूप से कार्यरूप कर दिया। स्वामी दयानन्द सांख्य की सृष्टि प्रक्रिया को स्वीकार करते हैं। वे प्रकृति, प्रकृति-विकृति और विकृति की श्रृंखला में कारण की कार्यरूप में परिणति से जगत की व्याख्या करते हैं। जब प्रकृति की साम्यावस्था नष्ट हो जाती है तब प्रकृति विकृति की ओर चल देती है। उसकी विकृति परम सूक्ष्म तन्मात्र परमाणु हैं जिनका संयोगात्मक विकार सृष्टि है। सृष्टि क्रम में महत्तत्व प्रकृति का प्रथम विकार है। महत्तत्व से अहंकार की और अहंकार से पंचतन्मात्राओं की उत्पत्ति हुई। परमाणु पंचतन्मात्राओं के सूक्ष्मतम अवयवों के रूप में उत्पन्न हुये। स्वामी दयानन्द पंचतन्मात्रों को परमाणु की चरम सीमा कहते हैं। परमाणुओं का संयोग ही सृष्टि का आरम्भ है। स्वामी दयानन्द प्रकृति की तरह सृष्टि क्रिया को भी क्रम से अनादि कहते हैं।

स्वामी दयानन्द एक यथार्थवादी दार्शनिक है। उनका ज्ञान सिद्धांत भी यथार्थवाद के ही अनुरूप है। ज्ञान स्वतः क्या है? इस विषय में स्वामी दयानन्द कहते हैं "यथार्थ दर्शनं ज्ञानमिति" अर्थात् यथार्थ दर्शन ही ज्ञान है। संशय और विपर्यय से शून्य यथार्थ ज्ञान ही वस्तुतः ज्ञान है। स्वामी दयानन्द संशयवाद को प्रश्रय नहीं देते हैं क्योंकि संशयात्मक ज्ञान अनिर्णयात्मक होता है। वे ज्ञेयवाद के समर्थक हैं। उनके अनुसार हर वस्तु के यथार्थ स्वरूप को जानना ही सत्य ज्ञान है। दयानन्द के अनुसार जीव का सामर्थ्य और साधन परिमित है अतः सम्पूर्ण विश्व का पूर्ण और असंदिग्ध ज्ञान वह नहीं पा सकता। यह उसकी ज्ञान की सीमा है। ज्ञान दो प्रकार का है- 1· स्वाभाविक 2· नैमित्तिक । आत्मा को अपने अस्तित्व का ज्ञान स्वाभाविक है, शेष नैमित्तिक।

दयानन्द सत्य ज्ञान की प्राप्ति में प्रमाणों को भी आवश्यक मानते हैं। प्रमाण आठ प्रकार के हैं- प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द, उपमान, ऐतिह्य, अर्थापत्ति, सम्भव और अभाव। न्याय शास्त्रानुसार इनका लक्षण देकर दयानन्द प्रथम चार को प्रमाणकोटि में रखते हैं। उनमें से भी प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द प्रमुख हैं जो हमारे ज्ञान के प्रधान साधन हैं।

अव्यपदेश्य, अव्यभिचारी और निश्चयात्मक ज्ञान को प्रत्यक्ष कहते हैं। प्रत्यक्ष ज्ञान दो प्रकार का होता है- बाह्य प्रत्यक्ष और अंत:प्रत्यक्ष। स्वामी दयानन्द अनुमान के लिए प्रत्यक्ष को आवश्यक मानते हैं। अनुमान तीन प्रकार का होता है।- पूर्ववत्, शेषवत् और सामान्यतोदृष्ट। तीसरा प्रमाण उपमान है। व्यक्ति को पहिचानना जिसको पहले कभी नहीं देखा, उपमान प्रमाण है। चौथा महत्वपूर्ण प्रमाण शब्द है। आप्त पुरुषों के उपदेश को शब्द प्रमाण कहते हैं। यथार्थदृष्टा, यथार्थवक्ता और जनकल्याणाभिनिवेशी ही आप्त पुरुष है। दयानन्द आप्त वाक्यों के अतिरिक्त परमेश्वर कृत वेदवाक्यों को भी स्वत: प्रमाण मानते हैं।

ज्ञाता के बिना ज्ञान संभव नहीं है। इसलिए ज्ञाता का अस्तित्व मानना पड़ता है। ज्ञाता की सत्ता स्वयं सिद्ध और ज्ञान प्राप्ति में अवश्यम्भावी है। स्वामी दयानन्द ज्ञाता और ज्ञेय की स्वतन्त्र सत्ता मानते हैं। उनके अनुसार ज्ञाता सदैव ज्ञाता ही रहता है ज्ञेय कभी नहीं होता। जगत के पदार्थ ज्ञाता के ज्ञान पर आश्रित नहीं है अपितु अपनी स्वतन्त्र सत्ता में विराजते हैं।

दयानन्द ज्ञान को मोक्ष प्राप्ति का साधन मानते हैं। तत्वज्ञान का

अन्तिम लक्ष्य मनुष्य के सद्गुणों का उन्नयन करके मुक्ति प्रदान करना है, आनन्द देना है।

तत्वज्ञान को षड्दर्शनों में वर्णित किया गया है। वैदिक षड्दर्शन संख्या में छ: हैं- न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, पूर्वमीमांसा व वेदांत। ये सभी दर्शन आस्तिक दर्शन कहलाते हैं। विद्वानों की यह धारणा है कि ये दर्शन एक दूसरे का विरोध करते हैं। यह विरोध भाष्य, टीकाओं और वृत्तियों की देन है। एक सम्प्रदाय के विद्वान दूसरे सम्प्रदाय की आलोचना करते हैं। परन्तु स्वामी दयानन्द के अनुसार षड्दर्शनों में आपसी विरोध कुछ भी नहीं है बल्कि इनमें से प्रत्येक सत्य के भिन्न-भिन्न पहलुओं की व्याख्या करता है। प्रतिपाद्य विषय के अनुसार प्रत्येक दर्शन की अर्थ प्रतिपादन की प्रक्रिया व पद्धति में कुछ भेद हो सकता है लेकिन ऐसा भेद विरोधमूलक नहीं होता। जैसे प्रमाणों का संख्या भेद, पदार्थ निर्देश का भेद आदि।

सांख्य के प्रकृतिवाद (गुणवाद) व वैशेषिक के परमाणुवाद में भी आपस में विरोध नहीं है वरन् इनमें स्तर भेद है। वैशेषिक ने प्रकृति का वर्णन परमाणु तक किया है जबकि सांख्य प्रकृति की परमाणु से भी सूक्ष्म अवस्था सत्व, रज व तम तक पहुँच गया । इससे इनका आपस में विरोध नहीं है। इस प्रकार दयानन्द ने सांख्य व वैशेषिक में समन्वय स्थापित किया।

उन्होंने मूल सांख्य सूत्रों का अवलोकन कर घोषणा की कि सांख्य दर्शन नास्तिक नहीं वरन् आस्तिक दर्शन है। शंकराचार्य जी ने अपने भाष्य में सांख्यों की आलोचना उनके नास्तिक होने पर की है। परन्तु सांख्य में ईश्वर के अस्तित्व

का नहीं वरन् ईश्वर के उपादान कारण का खंडन किया गया है। जगत का उपादान ईश्वर नहीं हो सकता क्योंकि जगत अचेतन है। प्रकृति ही जगत का उपादान कारण है। जिसके आधीन प्रकृति है उसे सांख्य सूत्रों में सर्वज्ञ व सर्वकर्ता कहा है जो ईश्वर ही हो सकता है। इसके अतिरिक्त सांख्य वेदों को स्वत: प्रमाण्य मानते हैं। अत: वह अनीश्वरवादी नहीं हो सकते। इसी प्रकार मीमांसा दर्शन भी अनीश्वरवादी नहीं है। मीमांसा का प्रतिपाद्य विषय धर्माधर्म का विवेचन है। अत: उसमें ईश्वर का वर्णन नहीं किया गया है लेकिन इसका अर्थ निरीश्वरवाद नहीं है।

इस प्रकार स्वामी दयानन्द ने समस्त वैदिक दर्शनों को ईश्वरवादी सिद्ध कर समान रूप से इनकी वेदानुकूलता को अभिव्यक्त किया। उनके अनुसार सभी दर्शन वेद को स्वत: प्रमाण मानते हैं। अत: ये परस्पर विरोधी नहीं हो सकते। वे वेदादिशास्त्रों के परस्पर विरोध का परिहार समन्वय वादी दृष्टिकोण को अपनाकर करते हैं। उन्होंने छहों दर्शनों में सृष्टि संबंधी विभिन्न विषयों की पृथक-पृथक निरूपण पद्धति को प्रदर्शित करके उनका विरोध युक्तिसंगत प्रतिपादित किया है। षड्दर्शनों में समन्वय उनकी अभूतपूर्व देन है।

स्वामी दयानन्द मनुष्य को सामाजिक प्राणी मानते हैं। मनुष्य का अधिकांश जीवन समाज के संबंध में बीतता है। अत: समाज में रह कर उसको जनहित के कार्यों को करना चाहिए। समाज में व्यक्ति की शारीरिक और आर्थिक उन्नति के साथ आत्मिक उन्नति भी शामिल है। व्यक्ति और समाज का संबंध मानव जीवन के लक्ष्य प्राप्ति में अत्यंत महत्वपूर्ण है।

सामाजिक क्षेत्र में स्वामी दयानन्द ने जाति व्यवस्था के स्थान पर गुण, कर्म और स्वभाव के आधार पर वर्ण-निर्धारण के सिद्धान्त का प्रतिपादन कर सामाजिक लोकतंत्र की नींव डाली। वर्ण व्यवस्था गुण कर्मणा ही स्वीकार्य है, जिसके अन्तर्गत धर्माचरण से निकृष्ट वर्ण अपने से श्रेष्ठ वर्ण को तथा अधर्माचरण से श्रेष्ठ वर्ण अपने से निकृष्ट वर्ण को प्राप्त हो जाता है। कोई भी मानव जन्म से ही अस्पृश्य कहलाने के योग्य नहीं है।

गुण और कर्म के अनुसार मनुष्य को चार वर्णों में विभाजित किया है- ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र। इसी प्रकार प्रत्येक व्यक्ति के जीवन को भी ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और सन्यास इन चार आश्रमों में बांटा है। जिनमें गृहस्थाश्रम सामाजिक व्यवस्था का केन्द्र बिन्दु होने के कारण अन्य आश्रमों से श्रेष्ठ है। दयानन्द के अनुसार जितना कुछ व्यवहार संसार में है उसका आधार गृहाश्रम ही है।

आयु का प्रथम भाग ब्रहमचर्य शिक्षा के लिये है। मनुष्य की उन्नति का मूल कारण शिक्षा है। अत: समाज में प्रत्येक मनुष्य को अनिवार्य शिक्षा दी जानी चाहिए। स्वामी दयानन्द अनिवार्य शिक्षा के समर्थक और सहशिक्षा के विरोधी थे। उन्होंने स्त्री शिक्षा पर विशेष बल दिया है। क्योंकि स्त्री शिक्षा के बिना राष्ट्र का पूर्ण विकास असंभव है।

दयानन्द ने राज्य विषयक चिन्तन हेतु "राज-धर्म" शब्द का प्रयोग किया है। वे राजनीति को धर्म से अलग नहीं मानते थे। राजनीति में नैतिक मूल्यों और प्रतिमानों की स्थापना करने के लिए उन्होंने राजनीति को धर्म

से संयुक्त किया है। वे स्वतन्त्र और निरंकुश राजतन्त्र के विरोधी थे। उनके अनुसार राजा को धर्मानुयायी एवं न्यायकारी होना चाहिए। राजा और प्रजा का संबंध धर्म, सत्य, नैतिकता और स्नेह पर आधारित होना चाहिए।

वे राज-धर्म के उपासक थे जिसकी इकाई स्वराज्य है। उनका मत था राष्ट्र की उन्नति स्वराज्य प्राप्ति पर ही संभव है। वे स्वराज्य को अपने जीवन का लक्ष्य मानते थे। दयानन्द सम्पूर्ण राज-वर्ग को प्रजा के आधीन रखना चाहते थे। अत: उन्होंने प्रजा द्वारा निर्वाचित लोकतान्त्रिक व्यवस्था को मान्यता दी। यह उनकी राजनीतिक दूरदर्शिता का प्रमाण है।

स्वामी दयानन्द प्रणीत साहित्य

1· सत्यार्थ प्रकाश- आर्य साहित्य प्रचार ट्रस्ट (33 वां संस्करण) दिल्ली, मार्च 1986 ई0

2· ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका- वैदिक मन्त्रालय, अजमेर (12वां संस्करण) 1984 ई0

3· संस्कार विधि- सार्वदेशिक आर्य प्र0स0, नई दिल्ली, सं0 वि0 2034

4· गो करुणानिधि- वैदिक मन्त्रालय, अजमेर-वि0सं0 1994

5· आर्योद्देश्य रत्नमाला- राम लाल कपूर ट्रस्ट, लाहौर- 1945 ई0

6· व्यवहार भानु- वैदिक मन्त्रालय, अजमेर- 1944 ई0

7· आर्याभिविनय- सावित्री देवी बगड़िया ट्रस्ट, कलकत्ता- 1983 ई0

8· यजुर्वेद भाष्य- सार्वदेशिक आर्य प्रति0स0, नई दिल्ली

9· ऋग्वेद भाष्य- सार्वदेशिक आर्य प्रति0स0, नई दिल्ली

10· संस्कृत वाक्य प्रबोध- राम लाल कपूर ट्रस्ट, अमृतसर, 1969 ई0

11· ऋषि दयानन्द सरस्वती के शास्त्रार्थ और प्रवचन (सं0-डा0 भवानी लाल भारतीय तथा पं0 युधिष्ठिर मीमांसक) सावित्री देवी बगड़िया ट्रस्ट, कलकता- 1982 ई0

12· पूना प्रवचन- (उपदेश मंजरी) -सं0-डा0 भवानी लाल भारतीय, वैदिक मन्त्रालय, अजमेर- 1976 ई0

13· महर्षि दयानन्द के सर्वश्रेष्ठ भाषण- [सं० -रामतीर्थ भाटिया] दिल्ली, 1976 ई०

14· दयानन्दीय लघु ग्रन्थ संग्रह [सं० -युधिष्ठिर मीमांसक] रामलाल कपूर ट्रस्ट, बहालगढ़- 1975 ई०

<u>अन्य साहित्य</u>

15· मुखोपाध्याय, देवेन्द्रनाथ- महर्षि दयानन्द सरस्वती का जीवन चरित्र भाग-1 [अनु०-घासीराम] आर्य साहित्य मण्डल, अजमेर, सं०वि० 2001

16· मुखोपाध्याय, देवेन्द्रनाथ- दयानन्द चरित [अनु०- घासीराम] गोविन्द राम हासानन्द, दिल्ली, सं० वि० 1989

17· मुखोपाध्याय, देवेन्द्रनाथ- आदर्श सुधारक दयानन्द [अनु० स्वामी अनुभवानन्द]- गोविन्द राम हासानन्द, दिल्ली, 1951 ई०

18· सत्यानन्द,स्वामी -श्री मद्दयानन्द प्रकाश-नई दिल्ली, सं० 2033

19· विद्यालंकार, सत्यदेव-राष्ट्रवादी दयानन्द, इन्दौर तथा नई दिल्ली, 1946 ई०

20· विद्यावाचस्पति, इन्द्रदेव- ऋषि दयानन्द और राजधर्म, पीलीभीत, 1964 ई०

21· वेदालंकार, प्रशान्त कुमार- महर्षि दयानन्द द्वारा प्रतिपादित राज्य व्यवस्था, गोविन्द राम हासानन्द, दिल्ली, 1975 ई०

22· भारतीय, भवानीलाल- महर्षि दयानन्द का राष्ट्रवाद, आर्य साहित्य प्रकाशन, जयपुर,सं०-2013

23· भारतीय, भवानीलाल- महर्षि दयानन्द और राजाराम मोहन राय आर्य प्रकाशन पुस्तकालय, आगरा

24· भारतीय, भवानीलाल- नवजागरण के पुरोधा दयानन्द सरस्वती, वैदिक पुस्तकालय, अजमेर 1983 ई0

25· गुप्त लक्ष्मीनारायण, हिन्दी भाषा और साहित्य को आर्यसमाज की देन, लखनऊ विश्वविद्यालय, सं0 2018

26· गुप्त, वेद प्रकाश- दयानन्द दर्शन, प्रकाशन प्रतिष्ठान, मेरठ

27· गुरुदत्त- महर्षि दयानन्द, भारतीय साहित्य सदन, नई दिल्ली, 1934 ई0

28· घोष, अरविन्द- स्वामी दयानन्द और वेद (अनु0 प्रेमचन्द्र विद्या भास्कर) गोविन्द राम हासानन्द, नई दिल्ली, वि0सं0 2007

29· उपाध्याय, गंगाप्रसाद-राजाराम मोहन राय, केशव चन्द्र सेन, स्वामी दयानन्द, कला प्रेस, प्रयाग, 1954 ई0

30· उपाध्याय, गंगाप्रसाद-राष्ट्र निर्माता स्वामी दयानन्द, वैदिक प्रकाशन, इलाहाबाद, 1970 ई0

31· उपाध्याय, गंगाप्रसाद-शंकर, रामानुज, दयानन्द (कला प्रेस, इलाहाबाद) 1950 ई0

32· दीक्षित, लक्ष्मीकांत- स्वराज्य दर्शन, सार्वदेशिक प्रकाशन, दिल्ली, 1947 ई0

33· बार्कर, अर्नेस्ट- सामाजिक तथा राजनीति शास्त्र के सिद्धांत (अनु०- बोधराज मिश्र) हरियाणा हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, चण्डीगढ़, 1972 ई०

34· विद्यावाचस्पति, इन्द्र- महर्षि दयानन्द का जीवन चरित्र, विजय पुस्तक भण्डार, दिल्ली, 1950 ई०

35· राय, लाला लाजपत-महर्षि दयानन्द सरस्वती और उनका काम, सार्वदेशिक आर्य प्रति०स०, नई दिल्ली, 1955 ई०

36· उपाध्याय, उमाकांत (सं०) भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम में आर्य समाज की देन, कलकता

37· उपाध्याय, उमाकान्त (सं०) महर्षि दयानन्द की देन, आर्य समाज कलकता, 1975 ई०

38· सरस्वती, स्वामी सत्यप्रकाश(सं०) महर्षि दयानन्द समग्र क्रांति के अग्रदूत, इलाहाबाद 1985 ई०

39· श्री प्रकाश- दयानन्द देश और आर्यसमाज, इलाहाबाद, 1984 ई०

40· ज्वलन्त कुमार- राष्ट्रीय एकता और दयानन्द, इलाहाबाद, 1987 ई०

41· शास्त्री, पं० रामगोपाल- महर्षि दयानन्द की राष्ट्रीय विचारधारा, भारतीय लोक समिति, दिल्ली, 1962 ई०

42· शास्त्री, पं० विश्वमित्र- राष्ट्रीय क्रांति के सूत्रधार-स्वामी दयानन्द सरस्वती, नालन्दा, 1973 ई०

43· सहाय, यदुवंश- महर्षि दयानन्द, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 1971 ई०

अंग्रेजी ग्रन्थ

1. Garg, Gangaram - World Perspective on Swami Dayananda Sarasvati, Concept Prakashan, New Delhi, 1984.
2. Chamupati - Ten Principle of Arya Samaj, Arya Pratinidhi Sabha, Punjab, 1964.
3. Jordans, J.T.F. - Dayananda Sarasvati - His life and ideas, Oxford Press, Delhi.
4. Parmashvaran C. - Dayananda and Indian Problem, Gurudatta Bhawan, Lahore, 1944.
5. Rai, Lala Lajpat - A History of Arya Samaj, Orient Longman's, Bombay, 1967.
6. Rola, Roma - Dayananda and Arya Samaj, Sarvadeshik Arya Pratinidhi Sabha, New Delhi, 1983.
7. Sarda, Harvilas - Life of Dayananda Sarasvati, Ajmer, 1957.
8. Sarda, Harvilas - Dayananda Commemoration Volume, Vedic Mantralaya, Ajmer, 1933.
9. Sarasvati, Swami Satya Prakash - A critical study of Philosophy of Dayananda, Arya Pratinidhi Sabha, Rajasthan, Ajmer, 1938.
10. Upadhyaya, Gangaprasad, Philosophy of Dayananda, Vedic Prakashan Mandir, Allahabad, 1955.
11. Upadhyaya, Gangaprasad, Social Reconstruction by Budha and Dayananda, Kala Press, Allahabad, 1956.